जैन साधना का आधार सम्यग्दर्शन

सामान्यतया जैनागमों में अज्ञान और अयथार्थ ज्ञान दोनों के लिए मिथ्यात्व शब्द का प्रयोग हुआ है। यही नहीं किन्हीं सन्दर्भों में अज्ञान, अयथार्थ ज्ञान, मिथ्यात्व और मोह समानार्थक रूप में प्रयुक्त भी हुए हैं। यहाँ पर हम अज्ञान शब्द का प्रयोग एक विस्तृत अर्थ में कर रहे हैं जिसमें उसके उपरोक्त सभी अर्थ समाहित हैं। नैतिक दृष्टि से अज्ञान नैतिक-आदर्श के अज्ञान का अभाव और शुभाशुभ विवेक की कमी को अभिव्यक्त करता है। जब तक प्राणी को स्व-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होता है अर्थात् मैं क्या हूँ? मेरा आदर्श क्या है? या मुझे क्या प्राप्त करना है? तब तक वह नैतिक जीवन में प्रविष्ट ही नहीं हो सकता। जैन विचारक कहते हैं कि जो आत्मा के स्वरूप को नहीं जानता, जड़ पदार्थों के स्वरूप को नहीं जानता, वह क्या संयम की आराधना (नैतिक साधना) करेगा?[१]

ऋषिभाषितसूत्र में तरुण साधक अर्हत् गाथापतिपुत्र कहते हैं- अज्ञान ही बहुत बड़ा दु:ख है। अज्ञान से ही भय का जन्म होता है। समस्त देहधारियों के लिए भव-परम्परा का मूल विविध रूपों में व्याप्त अज्ञान ही है जन्म-जरा और मृत्यु, भय-शोक, मान और अपमान सभी जीवात्मा के अज्ञान से उत्पन्न हुए हैं। संसार का प्रवाह (संतति) अज्ञानमूलक है।[२]

भारतीय नैतिक चिन्तन में मात्र कर्मों की शुभाशुभता पर ही विचार नहीं किया गया वरन् यह भी जानने का प्रयास किया गया कि कर्मों की शुभाशुभता का कारण क्या है। क्यों एक व्यक्ति अशुभ-कृत्यों की ओर प्रेरित होता है और क्यों दूसरा व्यक्ति शुभकृत्यों की ओर प्रेरित होता है? गीता में अर्जुन यह प्रश्न उठाता है कि हे कृष्णा! नहीं चाहते हुए भी सकी प्रेरणा से प्रेरित हो, वह पुरुष पापकर्म में नियोजित होता है?[३]

जैन दर्शन के अनुसार इसका जो प्रत्युत्तर दिया जा सकता है, वह यह है कि मिथ्यात्व ही अशुभ की ओर प्रवृत्ति करने का कारण है।[४] बुद्ध का भी कथन है कि मिथ्यात्व ही अशुभाचरण और सम्यग्दृष्टि ही सदाचरण का कारण है।[५] गीता का उत्तर है- रजोगुण से उत्पन्न काम ही ज्ञान को आवृत कर व्यक्ति को बलात् पापकर्म की ओर प्रेरित करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध, जैन और गीता के आचार-दर्शन इस सम्बन्ध में एक मत हैं- अनैतिक आचरण के मार्ग में प्रवृत्ति का कारण व्यक्ति का मिथ्या दृष्टिकोण ही है।

मिथ्यात्व क्या है?

जैन विचारकों की दृष्टि में वस्तुतत्त्व का अपने यथार्थ स्वरूप का बोध नहीं होना ही मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व लक्ष्य विमुखता है, तत्त्वरुचि का अभाव हैं, सत्य के प्रति जिज्ञासा या अभीप्सा का अभाव है। बुद्ध ने अविद्या को वह स्थिति माना है जिसके कारण व्यक्ति परमार्थ को सम्यक्-रूप से नहीं जान पाता है। बुद्ध कहते हैं- "आस्वाद दोष और मोक्ष को यथार्थत: नहीं जानता है, यही अविद्या है।'[६] मिथ्या स्वभाव को स्पष्ट करते हुए बुद्ध कहते हैं 'जो मिथ्यादृष्टि है— मिथ्या समाधि है। इसी को मिथ्या स्वभाव कहते हैं।"'[७] मिथ्यात्व को हम एक ऐसा दृष्टिकोण कह सकते हैं जो सत्यता की दिशा से विमुख है। संक्षेप में मिथ्यात्व असत्याभिरुचि है, राग और द्वेष के कारण दृष्टिकोण का विकृत हो जाना है।

जैन-दर्शन में मिथ्यात्व के प्रकार

आचार्य पूज्यपाद देवनन्दी ने मिथ्यात्व को उत्पत्ति की दृष्टि से दो प्रकार का बताया है:

१. **नैसर्गिक (अनर्जित)**- जो मिथ्यात्व मोहकर्म के उदय से होता है, वह नैसर्गिक मिथ्यात्व है।

२. **परोपदेशपूर्वक**- जो मिथ्या धारणा वाले लोगों के उपदेश से स्वीकार किया जाता है। अत: यह अर्जित या परोपदेशपूर्वक मिथ्यात्व है।

यह अर्जित मिथ्यात्व चार प्रकार का है-

(अ) क्रियावादी- आत्मा को कर्ता मानना

(ब) अक्रियावादी- आत्मा को अकर्ता मानना

(स) अज्ञानी- सत्य की प्राप्ति को सम्भव नहीं मानना

(द) वैनयिक- रूढ़-परम्पराओं को स्वीकार करना।

स्वरूप की दृष्टि से जैनागमों में मिथ्यात्व पाँच प्रकार का भी माना गया है।"[८]

१. **एकान्त**- जैनतत्त्वज्ञान में वस्तुतत्व को अनन्तधर्मात्मक माना गया है। उसमें समान जाति के अनन्त गुण ही नहीं होते हैं वरन् विरोधी गुण भी समाहित होते हैं। अत: वस्तु तत्त्व का एकांगी ज्ञान उसके सन्दर्भ में पूर्ण सत्य को प्रकट नहीं करता, वह आंशिक सत्य होता है, पूर्ण सत्य नहीं। आंशिक सत्य को जबपूर्ण सत्य मान लिया जाता है तो वह मिथ्यात्व हो जाता है। न केवल जैन विचारणा वरन् बौद्ध विचारणा में भी ऐकान्तिक ज्ञान को मिथ्या कहा गया है। बुद्ध कहते हैं- "भारद्वाज! सत्यानुरक्षक विज्ञ पुरुष को एकांश से ऐसी निष्ठा करना योग्य नहीं है कि यही सत्य और बाकी सब मिथ्या है।" बुद्ध इस सारे कथानक में इसी बात पर बल देते हैं कि सापेक्षिक कथन के रूप में ही सत्यानुरक्षक होता है अन्य प्रकार से नहीं[९]। उदान में भी बुद्ध ने कहा है- जो एकांतदर्शी हैं वे ही विवाद करते हैं[१०]। इस प्रकार बुद्ध ने भी एकांत को मिथ्यात्व माना है।

२. **विपरीत**- वस्तुतत्त्व का उसके स्व-स्वरूप के रूप में ग्रहण नहीं कर उसके विपरीत रूप में ग्रहण करना भी मिथ्यात्व है। प्रश्न हो सकता है कि जब वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मात्मक है और उसमें विरोधी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म भी रहे हुए हैं तो सामान्य व्यक्ति जिसका ज्ञान अंशग्राही है, इस विपरीत ग्रहण के दोष से बच नहीं सकता, क्योंकि उसने वस्तुतत्त्व के जिस पक्ष को ग्रहण किया उसका विरोधी धर्म भी उसमें उपस्थित है। अत: उसका समस्त ग्रहण विपरीत ही होगा; लेकिन इस विचार में एक भ्रान्ति है और वह यह है कि यद्यपि वस्तु अनन्तधर्मात्मक है लेकिन यह तो निरपेक्ष कथन है। एक अपेक्षा की दृष्टि से या जैन पारिभाषिक दृष्टि से कहें तो एक ही नय से वस्तुतत्त्व में दो विरोधी धर्म नहीं होते हैं, उदाहरणार्थ-एक ही अपेक्षा से आत्मा को नित्य और अनित्य नहीं माना जाता है। आत्मा द्रव्यार्थिक-दृष्टि से नित्य है तो पर्यायार्थिक-दृष्टि से अनित्य है। अत: आत्मा को पर्यायार्थिक दृष्टि से भी नित्य मानना, यह विपरीत ग्रहण मिथ्यात्व है। बुद्ध ने भी विपरीत ग्रहण को मिथ्या दृष्टित्व माना है और विभिन्न प्रकार के विपरीत ग्रहणों को स्पष्ट किया है।[११] गीता में भी विपरीत ग्रहण को अज्ञान कहा गया है। अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म के रूप में मानने वाली बुद्धि को गीता में तामस कहा गया है (१८/३२)।

३. **वैनयिक**- बिना बौद्धिक गवेषणा के परम्परागत तथ्यों, धारणाओं, नियमोपनियमों को स्वीकार कर लेना वैनयिक मिथ्यात्व है। यह एक प्रकार की रूढ़िवादिता है। वैनयिक मिथ्यात्व को बौद्ध-परम्परा की दृष्टि से शीलव्रत परामर्श भी कहा जा सकता है। इसे क्रियाकाण्डात्मक मनोवृत्ति भी कहा जा सकता है। गीता में इस प्रकार के केवल रूढ़ व्यवहार की निन्दा की गई है: वह कहती है- ऐसी क्रियाएँ जन्म-मरण को बढ़ाने वाली और त्रिगुणात्मक होती हैं।[१२]

४. **संशय**- संशयावस्था को भी जैन विचारणा में मिथ्यात्व माना गया है। यद्यपि जैन दार्शनिकों की दृष्टि में संशय को नैतिक विकास की दृष्टि से अनुपादेय माना गया है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि जैन विचारकों ने संशय को इस कोटि में रखकर उसके मूल्य को भुला दिया है। जैन विचारक भी आज के वैज्ञानिकों की तरह संशय को ज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक मानते हैं। प्राचीनतम जैनागम आचारांगसूत्र में कहा गया है "जो संशय को जानता है वही संसार के स्वरूप का परिज्ञाता होता है, जो संशय को नहीं जानता वह संसार के स्वरूप का भी परिज्ञाता नहीं हो सकता[१३]। लेकिन जहाँ तक साधनात्मक जीवन का प्रश्न है हमें संशय से ऊपर उठना होगा। जैन विचारक आचार्य आत्मारामजी महाराज आचारांगसूत्र की टीका में लिखते हैं- "संशय ज्ञान कराने में सहायक है परन्तु यदि वह जिज्ञासा की सरल भावना का परित्याग करके केवल सन्देह करने के कुटिल वृत्ति अपना लेता है, तो वह पतन का कारण बन जाता है।"[१४] संशयावस्था वह स्थिति है जिसमें प्राणी सत् और असत् की कोई निश्चित धारणा नहीं रखता है। सांशयिक अवस्था अनिर्णय की अवस्था है। सांशयिक ज्ञान सत्य होते हुए भी मिथ्या ही होगा। नैतिक दृष्टि से ऐसा साधक कब पथ-भ्रष्ट हो सकता है यह नहीं कहा जा सकता। वह तो लक्ष्योन्मुखता और लक्ष्यविमुखता के मध्य हिण्डोले की भाँति झूलता हुआ अपना समय व्यर्थ करता है। गीता भी यही कहती है कि संशय की अवस्था में लक्ष्य प्राप्त नहीं होता। संशयी आत्मा विनाश को ही प्राप्त होता है।[१५]

५. **अज्ञान**- जैन विचारकों ने अज्ञान को पूर्वाग्रह, विपरीत ग्रहण, संशय और ऐकान्तिक ज्ञान से पृथक् माना है। उपरोक्त चारों मिथ्यात्व के विधायक पक्ष कहे जा सकते हैं; क्योंकि इनमें ज्ञान तो उपस्थिति है लेकिन वह अयथार्थ है। इनमें ज्ञानाभाव नहीं वरन् ज्ञान की अयथार्थता है; जबकि अज्ञान ज्ञानाभाव है। अत: वह मिथ्यात्व का निषेधात्मक पक्ष प्रस्तुत करता है। अज्ञान नैतिक साधना का सबसे बड़ा बाधक तत्त्व है क्योंकि ज्ञानाभाव में व्यक्ति को अपने लक्ष्य का भान नहीं हो सकता है, न वह कर्तव्याकर्तव्य का विचार कर सकता है। शुभाशुभ में विवेक करने की क्षमता का अभाव अज्ञान ही है। ऐसे अज्ञान की अवस्था में नैतिक आचरण सम्भव नहीं होता।

मिथ्यात्व के २५ प्रकार

मिथ्यात्व के २५ भेदों का विवेचन हमें प्रतिक्रमणसूत्र में प्राप्त होता है जिसमें से १० भेदों का विवेचन स्थानांगसूत्र में है, मिथ्यात्व के शेष भेदों का विवेचन मूलागम ग्रन्थों में यत्र-तत्र बिखरा हुआ मिलता है।

(१) धर्म को अधर्म समझना।
(२) अधर्म को धर्म समझना।
(३) संसार (बन्धन) के मार्ग को मुक्ति का मार्ग समझना।
(४) मुक्ति के मार्ग को बन्धन का मार्ग समझना।
(५) जड़ पदार्थों को चेतन (जीव) समझना।
(६) आत्मतत्त्व (जीव) को जड़ पदार्थ (अजीव) समझना।
(७) असम्यक् आचरण करने वालों को साधु समझना।
(८) सम्यक् आचरण करने वालों को असाधु समझना।
(९) मुक्तात्मा को बद्ध मानना।
(१०) राग-द्वेष से युक्त को मुक्त समझना[१६]।
(११) आभिग्रहिक मिथ्यात्व-परम्परागत रूप में प्राप्त धारणाओं को बिना समीक्षा के अपना लेना अथवा उनसे जकड़े रहना।
(१२) अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व- सत्य को जानते हुए भी उसे स्वीकार नहीं करना अथवा सभी मतों को समान मूल्य वाला समझना।
(१३) आभिनिवेशिक मिथ्यात्व-अभिमान की रक्षा के निमित्त असत्य मान्यता को हठपूर्वक पकड़े रहना।
(१४) सांशयिक मिथ्यात्व-संशयशील बने रहकर सत्य का निश्चय नहीं कर पाना।
(१५) अनाभोग मिथ्यात्व-विवेक अथवा ज्ञानक्षमता का अभाव।
(१६) लौकिक मिथ्यात्व-लोक रूढ़ि में अविचारपूर्वक बंधे रहना।
(१७) लोकोत्तर मिथ्यात्व-पारलौकिक उपलब्धियों के निमित्त स्वार्थवश धर्म साधना करना।
(१८) कुप्रवचन मिथ्यात्व-मिथ्या दार्शनिक विचारणाओं को स्वीकृत करना।
(१९) न्यून मिथ्यात्व-पूर्ण सत्य अथवा तत्त्व स्वरूप को आंशिक सत्य समझ लेना अथवा न्यून मानना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२०) अधिक मिथ्यात्व-आंशिक सत्य को उससे अधिक अथवा पूर्ण सत्य समझ लेना।

(२१) विपरीत मिथ्यात्व-वस्तुतत्त्व को उसके विपरीत रूप में समझना।

(२२) अक्रिया मिथ्यात्व-आत्मा को ऐकान्तिक रूप से अक्रिय मानना अथवा सिर्फ ज्ञान को महत्त्व देकर आचरण के प्रति उपेक्षा रखना।

(२३) अज्ञान मिथ्यात्व-ज्ञान अथवा विवेक का अभाव।

(२४) अविनय मिथ्यात्व-पूज्य वर्ग के प्रति समुचित सम्मान प्रकट न करना अथवा उनकी आज्ञाओं का परिपालन नहीं करना। पूज्यबुद्धि और विनीतता का अभाव अविनय मिथ्यात्व है।

(२५) आसातना मिथ्यात्व-पूज्य वर्ग की निन्दा और आलोचना करना।

अविनय और आसातना को मिथ्यात्व इसलिए कहा गया है कि इनकी उपस्थिति से व्यक्ति गुरुजनों का यथोचित सम्मान नहीं करता है और फलस्वरूप उनसे मिलने वाले यथार्थता के बोध से वंचित रहता है।

बौद्ध-दर्शन में मिथ्यात्व के प्रकार

महात्मा बुद्ध ने सद्धर्म का विनाश करने वाली कुछ धारणाओं का विवेचन अंगुत्तरनिकाय[१०] में किया है जो कि जैन विचारणा के मिथ्यात्व की धारणा के बहुत निकट है। तुलना की दृष्टि से हम उनकी संक्षिप्त सूची प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसके आधार पर यह जाना जा सके कि दोनों विचार परम्पराओं का इस सम्बन्ध में कितना अधिक साम्य है।

१. अधर्म को अधर्म बताना।

२. धर्म को धर्म बताना।

३. भिक्षु अनियम (अविनय) को भिक्षुनियम (विनय) बताना।

४. भिक्षु नियम को अनियम बताना।

५. तथागत (बुद्ध) द्वारा अभाषित को तथागत भाषित कहना।

६. तथागत द्वारा भाषित को अभाषित कहना।

७. तथागत द्वारा अनाचरित को आचरित कहना।

८. तथागत द्वारा आचरित को अनाचरित कहना।

९. तथागत द्वारा नहीं बनाए हुए (अप्रज्ञप्त) नियम को प्रज्ञप्त कहना।

१०. तथागत द्वारा प्रज्ञप्त (बनाए हुए नियम) को अप्रज्ञप्त बताना।

११. अनपराध को अपराध कहना।

१२. अपराध को अनपराध कहना।

१३. लघु अपराध को गुरु अपराध कहना।

१४. गुरु अपराध को लघु अपराध कहना।

१५. गम्भीर अपराध को अगम्भीर कहना।

१६. अगम्भीर अपराध को गम्भीर कहना।

१७. निर्विशेष अपराध को सविशेष कहना।

१८. सविशेष अपराध को निर्विशेष कहना।

१९. प्रायश्चित्त योग्य (सप्रतिकर्म) आपत्ति को प्रायश्चित के अयोग्य कहना।

२०. प्रायश्चित्त के अयोग्य (अप्रतिकर्म) आपत्ति को प्रायश्चित्त के योग्य (सप्रतिकर्म) कहना।

गीता में अज्ञान :

गीता के मोह, अज्ञान या तामसिक ज्ञान भी मिथ्यात्व कहे जा सकते हैं। इस आधार पर विचार करने से गीता में मिथ्यात्व का निम्न स्वरूप उपलब्ध होता है-

१. परमात्मा लोक का सर्जन करने वाला, कर्म का कर्ता एवं कर्मों के फल का संयोग करने वाला है अथवा वह किसी के पाप-पुण्य को ग्रहण करता है, यह मानना अज्ञान है (५-१४, १५)।

२. प्रमाद, आलस्य और निद्रा अज्ञान है (१४-८), धन परिवार एवं दान का अहंकार करना अज्ञान है (१६-१५), विपरीत ज्ञान के द्वारा क्षणभंगुर नाशवान शरीर में आत्म-बुद्धि रखना व उसमें सर्वस्व की भाँति आसक्त रहना, जो कि तत्त्व-अर्थ से रहित और तुच्छ है, तामसिक ज्ञान है (१८-१२)। इसी प्रकार असद् का ग्रहण, अशुभ आचरण (१६-१०) और संशयात्मकता को भी गीता में अज्ञान कहा गया है।

पाश्चात्य दर्शन में मिथ्यात्व का प्रत्यय

मिथ्यात्व यथार्थता के बोध का बाधक तत्त्व है। वह एक ऐसा रंगीन चश्मा है जो वस्तुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को आवृत कर व्यक्ति के समक्ष उसका अयथार्थ किंवा भ्रान्त स्वरूप ही प्रकट करता है। भारत ही नहीं, पाश्चात्य देशों के विचारकों ने भी यथार्थता या सत्य के जिज्ञासु को मिथ्या धारणाओं से परे रहने का संकेत किया है। पाश्चात्य दर्शन के नवयुग के प्रतिनिधि फ्रांसिस बेकन शुद्ध और निर्दोष ज्ञान की प्राप्ति के लिए मानस को निम्न चार मिथ्या धारणाओं से मुक्त रखने का निर्देश करते हैं, चार मिथ्या धारणाएँ निम्न हैं-

(१) जातिगत मिथ्या धारणाएँ (Idola Tribus)-सामाजिक संस्कारों से प्राप्त मिथ्या धारणाएँ।

(२) बाजारू मिथ्या विश्वास (Idola Fori)- असंगत अर्थ आदि।

(३) व्यक्तिगत मिथ्या विश्वास (Idola Speces)- व्यक्ति के द्वारा बनाई गयी मिथ्या धारणाएँ (पूर्वाग्रह)

(४) रंगमंच की भ्रान्ति (Idola Theatri)- मिथ्या सिद्धान्त या मान्यताएँ।

वे कहते हैं- 'इन मिथ्या विश्वासों (पूर्वाग्रहों) से मानस को मुक्त करके ही ज्ञान को यथार्थ और निर्दोष रूप में ग्रहण करना चाहिए।'[१८]

जैन दर्शन में अविद्या का स्वरूप

जैन दर्शन में अविद्या का पर्यायवाची शब्द मोह भी है। मोह आत्मा को सत् के सम्बन्ध में यथार्थ दृष्टि को विकृत कर उसे गलत मार्ग-दर्शन करता है और असम्यक् आचरण के लिए प्रेरित करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमार्थ और सत्य के सम्बन्ध में जो अनेक भ्रान्त धारणाएँ आती हैं एवं असदाचरण होता है उनका आधार यही मोह है। मिथ्यात्व, मोह या अविद्या के कारण व्यक्ति की दृष्टि दूषित होती है और परिणामस्वरूप व्यक्ति की परम मूल्यों के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणाएँ बन जाती हैं। वह उन्हें ही परम मूल्य मान लेता है जो कि वस्तुत: परम मूल्य या सर्वोच्च मूल्य नहीं होते हैं।

जैन-दर्शन में अविद्या और विद्या का अन्तर करते हुए समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द बताते हैं कि जो पुरुष अपने से अन्य पर-द्रव्य सचित्त स्त्री-पुत्रादिक, अचित्त धनधान्यादिक, मिश्र ग्रामनगरादिक-इनको ऐसा समझे कि मेरे है, ये मेरे पूर्व में थे, इनका मैं पहले भी था तथा ये मेरे आगामी होंगे; मैं भी इनका आगामी होऊँगा ऐसा झूठा आत्म विकल्प करता है वह मूढ़ है और जो पुरुष परमार्थ को जानता हुआ ऐसा झूठा विकल्प नहीं करता है, वह मूढ़ नहीं है, ज्ञानी है।[१९]

जैन दर्शन में अविद्या या मिथ्यात्व केवल आत्मनिष्ठ (Subjective) ही नहीं है, वरन् वह वस्तुनिष्ठ भी है। जैन दर्शन में मिथ्यात्व का अर्थ है- सम्यक् ज्ञान का अभाव या विपरीत ज्ञान। उसमें एकान्तिक दृष्टिकोण मिथ्याज्ञान है। दूसरे जैन दर्शन में मिथ्यात्व अकेला ही बन्धन का कारण नहीं है। वह बन्धन का प्रमुख कारण होते हुए भी उसका सर्वस्व नहीं है। मिथ्या-दर्शन के कारण ज्ञान दूषित होता है और ज्ञान के दूषित होने से आचरण या चारित्र दूषित होता है। इस प्रकार मिथ्यात्व अनैतिक जीवन का प्रारम्भिक बिन्दु है और अनैतिक आचरण उसकी अन्तिम परिणति है। नैतिक जीवन के लिए मिथ्यात्व से मुक्त होना आवश्यक है, क्योंकि जब तक दृष्टि दूषित है, ज्ञान भी दूषित होगा और जब तक ज्ञान दूषित है तब तक आचरण भी सम्यक् या नैतिक नहीं हो सकता। नैतिक जीवन में प्रगति के लिए प्रथम शर्त है- मिथ्यात्व से मुक्त होना।

जैन दर्शनिकों की दृष्टि में मिथ्यात्व की पूर्वकोटि का पता नहीं लगाया जा सकता, वह अनादि है, फिर भी वह अनन्त नहीं माना गया है। जैन-दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो भव्य जीवों की अपेक्षा से मिथ्यात्व अनादि और सान्त है और अभव्य जीवों की अपेक्षा से वह अनादि और अनन्त है। आत्मा पर अविद्या या मिथ्यात्व का आवरण कब से है यह पता नहीं लगाया जा सकता है, यद्यपि अविद्या या मिथ्यात्व से मुक्ति पाई जा सकती है। एक ओर मिथ्यात्व का कारण अनैतिकता है तो दूसरी ओर अनैतिकता का कारण मिथ्यात्व है। इसी प्रकार सम्यक्त्व का कारण नैतिकता और नैतिकता का कारण सम्यक्त्व है। नैतिक आचरण के परिणामस्वरूप सम्यक्त्व या यथार्थ दृष्टिकोण का उद्भव होता है और सम्यक्त्व या यथार्थ दृष्टिकोण के कारण नैतिक आचरण होता है।

बौद्ध दर्शन में अविद्या का स्वरूप

बौद्ध-दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद की प्रथम कड़ी अविद्या ही मानी गयी है। अविद्या से उत्पन्न व्यक्तित्व ही जीवन का मूलभूत पाप है। जन्म-मरण की परम्परा और दु:ख का मूल यही अविद्या है। जिस प्रकार जैन-दर्शन में मिथ्यात्व की पूर्वकोटि नहीं जानी जा सकती, उसी प्रकार बौद्ध-दर्शन में भी अविद्या की पूर्वकोटि नहीं जानी जा सकती है। यह एक ऐसी सत्ता है जिसको समझ सकना कठिन है। हमें बिना अधिक गहराइयों में उतरे इसके अस्तित्व को स्वीकार कर लेना पड़ेगा। अविद्या समस्त जीवन की पूर्ववर्ती आवश्यक अवस्था है, इसके पूर्व कुछ नहीं; क्योंकि जन्म-मरण की प्रक्रिया का कहीं आरम्भ नहीं खोजा जा सकता है; लेकिन दूसरी ओर इसके अस्तित्व से इन्कार भी नहीं किया जा सकता है। स्वयं जीवन या जन्म-मरण की परम्परा इसका प्रमाण है कि अविद्या उपस्थित है अविद्या का उद्भव कैसे होता है, यह नहीं बताया जा सकता है। अश्वघोष के अनुसार-'तथता' से ही अविद्या का जन्म होता है।[२०] डा० राधाकृष्णन् की दृष्टि में बौद्ध दर्शन में अविद्या उस परम सत्ता, जिसे आलयविज्ञान, तथागतधर्म, शून्यता, धर्मधातु एवं तथता कहा गया है, की वह शक्ति है, जो विश्व के भीतर से व्यक्तिगत जीवनों की शृंखला को उत्पन्न करती है। यह यथार्थ सत्ता ही अन्दर विद्यमान निषेधात्मक तत्त्व है हमारी सीमित बुद्धि इसकी तह में इससे अधिक और प्रवेश नहीं कर सकती।[२१]

सामान्यतया अविद्या का अर्थ चार आर्यसत्यों का ज्ञानाभाव है। माध्यमिक एवं विज्ञानवादी विचारकों के अनुसार इन्द्रियानुभूति के विषय इस जगत् की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है या परतंत्र एवं सापेक्षित है, इसे यथार्थ मान लेना यहीं अविद्या है। दूसरे शब्दों में, अयथार्थ अनेकता को यथार्थ मान लेना यहीं अविद्या का कारण है, इसी में से वैयक्तिक अहं का प्रादुर्भाव होता है और यहीं से तृष्णा का जन्म होता हैं। बौद्ध-दर्शन के अनुसार भी अविद्या और तृष्णा (अनैतिकता) में पारस्परिक कार्य-कारण सम्बन्ध है। अविद्या के कारण तृष्णा और तृष्णा के कारण अविद्या उत्पन्न होती है। जिस प्रकार जैन-दर्शन में मोह के दो कार्य दर्शन-मोह और चारित्र-मोह-हैं उसी प्रकार बौद्ध-दर्शन में अविद्या के दो कार्य-ज्ञेयावरण एवं क्लेशावरण हैं। ज्ञेयावरण की तुलना दर्शन-मोह से और क्लेशावरण की तुलना चारित्र-मोह से की जा सकती है। जिस प्रकार वैदिक-परम्परा में माया को अनिर्वचनीय माना गया है उसी प्रकार बौद्ध-परम्परा में भी अविद्या को सत् और असत् दोनों ही कोटियों से परे माना गया है। विज्ञानवाद एवं शून्यवाद के सम्प्रदायों की दृष्टि में नानारूपात्मक जगत् को परमार्थ मान लेना अविद्या है। मैत्रेयनाथ ने अभूतपरिकल्प (अनेकता का ज्ञान) की विवेचना करते हुए बताया कि उसे सत् और असत् दोनों ही नहीं कहा जा सकता है। वह सत् इसलिए नहीं है क्योंकि परमार्थ में अनेकता या द्वैत का कोई अस्तित्व नहीं है और वह असत् इसलिए नहीं है कि उसके प्रहाण से निर्वाण का लाभ होता है।[२२] इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध-दर्शन के परवर्ती सम्प्रदायों में अविद्या का स्वरूप बहुत कुछ वेदान्तिक माया के समान बन गया है।

समीक्षा

बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद और शून्यवाद के सम्प्रदायों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अविद्या का जो स्वरूप बताया गया है वह आलोचना का विषय ही रहा है। विज्ञानवादी और शून्यवादी विचारक अपने निरपेक्ष दृष्टिकोण के आधार पर इन्द्रियानुभूति के विषयों को अविद्या या वासना का काल्पनिक प्रत्यय मानते हैं। दूसरे, उनके अनुसार अविद्या आत्मनिष्ठ (Subjective) है। जैन दार्शनिकों ने उनकी इस मान्यता को अनुचित ही माना है क्योंकि प्रथमत: अनुभव के विषयों को अनादि अविद्या के काल्पनिक प्रत्यय मानकर इन्द्रियानुभूति के ज्ञान को असत्य बताया गया है। जैन दार्शनिकों की दृष्टि में इन्द्रियानुभूति के विषयों को असत् नहीं माना जा सकता, वे तर्क और अनुभव दोनों को ही यथार्थ मानकर चलते हैं। उनके अनुसार तार्किक ज्ञान (बौद्धिक ज्ञान) और अनुभूत्यात्मक ज्ञान-दोनों ही यथार्थता का बोध करा सकते हैं। बौद्ध-दार्शनिकों की यह धारणा कि 'अविद्या केवल आत्मगत है' जैन दार्शनिकों को स्वीकार नहीं है। वे अविद्या का वस्तुगत आधार भी मानते हैं। उनकी दृष्टि में बौद्ध दृष्टिकोण एकांगी ही सिद्ध होता है। बौद्ध दर्शन के अविद्या की विस्तृत समीक्षा आदरणीय श्री नथमल टाटिया ने अपनी पुस्तक 'स्टडीज इन जैन फिलॉसफी' में की है।[२३] हमें विस्तार भय से और अधिक गहराई में उतरना आवश्यक नहीं लगता है।

गीता में अविद्या, अज्ञान और माया शब्द का प्रयोग हमें मिलता है। गीता में अज्ञान और माया सामान्यतया दो भिन्न-भिन्न अर्थों में ही प्रयुक्त हुए हैं। अज्ञान वैयक्तिक है जबकि माया एक ईश्वरीय शक्ति है। गीता में अज्ञान का अर्थ परमात्मा के उस वास्तविक स्वरूप के ज्ञान का अभाव है जिस रूप में वह जगत् में व्याप्त होते हुए भी उससे परे है। गीता में अज्ञान विपरीत ज्ञान, मोह, अनेकता को यथार्थ मान लेना आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। ज्ञान के सात्त्विक, राजस और तामस प्रकारों का विवेचन करते हुए गीता में यह स्पष्ट बताया गया है कि अनेकता को यथार्थ मानने वाला दृष्टिकोण या ज्ञान राजस है। इसी प्रकार यह मानना कि परम तत्त्व मात्र इतना ही है, यह ज्ञान तामस है।[२४] यद्यपि गीता में माया को व्यक्ति के दु:ख एवं बन्धन का कारण माना गया है। क्योंकि यह एक भ्रान्त आंशिक चेतना का पोषण करती है और उस रूप में पूर्ण यथार्थता का ग्रहण सम्भव नहीं होता। फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि गीता में माया ईश्वर की ऐसी कार्यकारी शक्ति भी है जिसके माध्यम से परमात्मा इस नानारूपात्मक जगत् में अपने को अभिव्यक्त करता है। वैयक्तिक दृष्टि से माया परमार्थ का आवरण कर व्यक्ति को उसके यथार्थ ज्ञान से वंचित करती है, जबकि परमसत्ता की अपेक्षा से वह उसकी एक शक्ति ही सिद्ध होती है।

वेदान्त दर्शन में अविद्या का अर्थ अद्वय परमार्थ में अनेकता की कल्पना है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि जो अद्वय में अनेकता का दर्शन करता है वह मृत्यु को प्राप्त होता है।[२५] इसके विपरीत अनेकता में एकता का दर्शन यह सच्चा ज्ञान है। ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि जो सभी को परमात्मा में और परमात्मा में सभी को स्थित देखता है, उस एकत्वदर्शी को न विजुगुप्सा होती है और न उसे कोई मोह या शोक होता है।[२६] वेदान्तिक परम्परा में अविद्या जगत् के प्रति आसक्ति एवं मिथ्या दृष्टिकोण है और माया एक ऐसी शक्ति है जिससे यह अनेकतामय जगत् अस्तित्ववान प्रतीत होता है। माया इस नानारूपात्मक जगत् का आधार है और अविद्या हमें उससे बाँधे हुए रखती है। वेदान्तिक दर्शन में माया अद्वय अविकार्य परमसत्ता की नानारूपात्मक जगत् के रूप में प्रतीति हैं। वेदान्त में माया न तो सत् है और असत् है उसे चतुष्कोटिविनिर्मुक्त कहा गया है।[२७] वह सत् इसलिए नहीं है कि उसका निरसन किया जा सकता है। वह असत् इसलिए नहीं है कि उसके आधार पर व्यवहार होता है। वेदान्तिक दर्शन में माया जगत् की व्याख्या और उसकी उत्पत्ति का सिद्धान्त है, जबकि अविद्या वैयक्तिक आसक्ति है।

समीक्षा

वेदान्त-दर्शन में माया एक अर्ध सत्य है जबकि तार्किक दृष्टि से माया या तो सत्य हो सकती है या असत्य। जैन-दार्शनिकों के अनुसार सत्य सापेक्षिक अवश्य हो सकता है लेकिन अर्ध सत्य (Half Truth) ऐसी कोई अवस्था नहीं हो सकती है। यदि अद्वय परमार्थ को नानारूपात्मक मानना यह अविद्या है तो जैन दार्शनिकों को यह दृष्टिकोण स्वीकार नहीं है। यद्यपि जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराएँ अविद्या की इस व्याख्या में एकमत हैं कि अविद्या या मोह का अर्थ अनात्म में आत्मबुद्धि है।

उपसंहार

अज्ञान, अविद्या या मोह की उपस्थिति ही हमारी सम्यक् प्रगति का सबसे बड़ा अवरोध है। हमारे क्षुद्र व्यक्तित्व और परमात्मतत्व के बीच सबसे बड़ी बाधा है। उसके हटते ही हम अपने को अपने में ही उपस्थित कर परमात्मा के निकट खड़ा पाते हैं। फिर भी प्रश्न है कि इस अविद्या या मिथ्यात्व से मुक्ति कैसे हो? वस्तुत: अविद्या से मुक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं कि हम अविद्या या अज्ञान को हटाने का प्रयत्न करें क्योंकि उसके हटाने के सारे प्रयास वैसे ही निरर्थक होंगे जैसे कोई अन्धकार को हटाने के प्रयत्न करे। जैसे प्रकाश के होते ही अन्धकार स्वयं ही समाप्त हो जाता है उसकी प्रकार ज्ञान रूप प्रकाश या सम्यक् दृष्टि के उत्पन्न होते ही अज्ञान या अविद्या का अन्धकार समाप्त हो जाता हैं। आवश्यकता इस बात की नहीं है कि हम अविद्या या मिथ्यात्व को हटाने का प्रयत्न करें वरन् आवश्यकता इस बात की है कि हम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की ज्योति को प्रज्वलित करें ताकि अविद्या या अज्ञान का तमिस्र समाप्त हो जाये।

सम्यक्त्व

जैन परम्परा में सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्व या सम्यग्दृष्टित्व शब्दों का प्रयोग समानार्थक रूप में हुआ है। यद्यपि आचार्य जिनभद्र ने विशेषावश्यकभाष्य में सम्यक्त्व और सम्यग्दर्शन के भिन्न-भिन्न अर्थों का निर्देश किया है।[२८] अपने भिन्न अर्थ में सम्यक्त्व वह है जिसकी

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

उपस्थिति से श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र सम्यक् बनते हैं। सम्यक्त्व का अर्थ-विस्तार सम्यग्दर्शन से अधिक व्यापक है, फिर भी सामान्यतया सम्यग्दर्शन और सम्यक्त्व शब्द एक ही अर्थ में प्रयोग किए गए हैं। वैसे सम्यक्त्व शब्द में सम्यक्दर्शन निहित ही है।

सम्यक्त्व का अर्थ

सबसे पहले हमें इसे स्पष्ट कर लेना होगा कि सम्यक्त्व या सम्यक् शब्द का क्या अभिप्राय है। सामान्य रूप में सम्यक् या सम्यक्त्व शब्द सत्यता या यथार्थता का परिचायक है, उसे हम उचितता भी कह सकते हैं। सम्यक्त्व का अर्थ तत्त्वरुचि[२९] भी है। इस अर्थ में सम्यक्त्व सत्याभिरुचि या सत्य की अभीप्सा है। दूसरे शब्दों में, इसको सत्य के प्रति जिज्ञासावृत्ति या मुमुक्षुत्व भी कहा जा सकता है। अपने दोनों ही अर्थों में सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व नैतिक जीवन के लिए आवश्यक है। जैन नैतिकता का चरम आदर्श आत्मा के यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि है, लेकिन यथार्थ की उपलब्धि भी तो यथार्थता से सम्भव होगी, अयथार्थ से तो यथार्थ पाया नहीं जा सकता। यदि साध्य यथार्थता की उपलब्धि है तो साधना भी यथार्थ ही चाहिए। जैन विचारणा साध्य और साधना की एकरूपता में विश्वास करती है। वह यह मानती है कि अनुचित साधना से प्राप्त किया लक्ष्य भी अनुचित ही है, वह उचित नहीं कहा जा सकता। सम्यक् को सम्यक् से ही प्राप्त करना होता है। असम्यक् से जो भी मिलता है, पाया जाता है, वह असम्यक् ही होता है। अत: आत्मा के यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि के लिए उन्होंने जिन साधनों का विधान किया उनका सम्यक् होना आवश्यक माना गया। वस्तुत: ज्ञान, दर्शन और चारित्र का नैतिक मूल्य उनके सम्यक् होने में समाहित है। जब ज्ञान; दर्शन और चारित्र सम्यक् होते हैं तो वे मुक्ति या निर्वाण के साधन बनते हैं। लेकिन यदि वे ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र मिथ्या होते हैं तो बन्धन का कारण बनते हैं। बन्धन और मुक्ति ज्ञान, दर्शन और चारित्र पर निर्भर नहीं वरन् उनकी सम्यक्तत्वऔर मिथ्यात्व पर आधारित है। सम्यक् ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र मोक्ष का मार्ग है जबकि मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र ही बन्धन का मार्ग है।

आचार्य जिनभद्र की धारणा के अनुसार यदि सम्यक्त्व का अर्थ तत्त्वरुचि या सत्याभीप्सा करते हैं तो सम्यक्त्व का नैतिक साधना में महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्ध होता है। नैतिकता की साधना आदर्शोन्मुख गति है लेकिन जिसके कारण वह गति है, साधना है, वह तो सत्याभीप्सा ही है। साधक में जब तक सत्याभीप्सा या तत्त्वरुचि जाग्रत नहीं होती तब तक वह नैतिक प्रगति की ओर अग्रसर ही नहीं हो सकता। सत्य की चाह या सत्य की प्यास ही ऐसा तत्त्व है जो उसे साधना-मार्ग में प्रेरित करता है। जिसे प्यास नहीं, वह पानी की प्राप्ति का क्यों प्रयास करेगा? जिसमें सत्य की उपलब्धि की चाह (तत्त्वरुचि) नहीं वह क्यों साधना करने लगा? प्यासा ही पानी की खोज करता है। तत्त्वरुचि या सत्याभीप्सा से युक्त व्यक्ति ही आदर्श की प्राप्ति के निमित्त साधना के मार्ग पर आरूढ़ होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में दोनों अर्थों को समन्वित कर दिया गया है। ग्रन्थकर्ता की दृष्टि में यद्यपि सम्यक्त्व यथार्थता की अभिव्यक्ति करता है लेकिन यथार्थता जिस ज्ञानात्मक तथ्य के रूप में उपस्थित होती है, उसके लिए सत्याभीप्सा या रुचि आवश्यक है।

दर्शन का अर्थ

दर्शन शब्द भी जैनागमों में अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जीवादि पदार्थों के स्वरूप को देखना, जानना, श्रद्धा करना दर्शन कहा जाता है।[३०] सामान्यतया दर्शन शब्द देखने के अर्थ में व्यवहार किया जाता है लेकिन यहाँ पर दर्शन शब्द का अर्थ मात्र नेत्रजन्य बोध नहीं है। उसमें इन्द्रियबोध, मनबोध और आत्मबोध सभी सम्मिलित हैं। दर्शन शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में जैन परम्परा में काफी विवाद रहा है। दर्शन शब्द को ज्ञान से अलग करते हुए विचारकों ने दर्शन को अन्तर्बोध और ज्ञान को बौद्धिक ज्ञान कहा है।[३१] नैतिक जीवन की दृष्टि से विचार करने पर दर्शन शब्द का दृष्टिकोणपरक अर्थ किया गया है।[३२] दर्शन शब्द के स्थान पर दृष्टि शब्द का प्रयोग, उसके दृष्टिकोणपरक अर्थों का द्योतक है। प्राचीन जैन आगमों में दर्शन शब्द के स्थान पर दृष्टि शब्द का प्रयोग बहुलता से देखा जाता है। तत्त्वार्थसूत्र[३३] और उत्तराध्ययनसूत्र[३४] में दर्शन शब्द का अर्थ तत्त्वश्रद्धा माना गया है। परवर्ती जैन साहित्य में दर्शन शब्द का देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा या भक्ति के अर्थ में भी व्यवहार किया गया है।[३५] इस प्रकार जैन परम्परा में सम्यक् दर्शन तत्त्व-साक्षात्कार, आत्म-साक्षात्कार, अन्तर्बोध, दृष्टिकोण, श्रद्धा और भक्ति आदि अर्थों को अपने में समेटे हुए हैं। इन पर थोड़ी गहराई से विचार करना अपेक्षित है।

क्या सम्यग्दर्शन के उपरोक्त अर्थ परस्पर विरोधी हैं

सम्यग्दर्शन शब्द के विभिन्न अर्थों पर विचार करने से पहले हमें यह देखना होगा कि इनमें से कौन-सा अर्थ ऐतिहासिक दृष्टि से प्रथम था और उसके पश्चात् किन-किन ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण यही शब्द अपने दूसरे अर्थों में प्रयुक्त हुआ। प्रथमत: हम देखते हैं कि बुद्ध और महावीर के अपने समय में प्रत्येक धर्म-प्रवर्तक अपने सिद्धान्त को सम्यग्दृष्टि और दूसरे के सिद्धान्त को मिथ्यादृष्टि कहता था। बौद्धागमों में ६२ मिथ्यादृष्टियों एवं जैनागम सूत्रकृतांग में ६३ मिथ्यादृष्टियों का विवेचन मिलता है। लेकिन वहाँ पर मिथ्यादृष्टि शब्द अश्रद्धा अथवा मिथ्याश्रद्धा के अर्थ में नहीं वरन् गलत दृष्टिकोण के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। बाद में जब यह प्रश्न उठा कि गलत दृष्टिकोण को किस सन्दर्भ में माना जाय, तो कहा गया कि जीव (आत्मतत्त्व) और जगत के सम्बन्ध में जो गलत दृष्टिकोण है, वही मिथ्यादर्शन या मिथ्यादृष्टि है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि से तात्पर्य हुआ आत्मा और जगत के विषय में गलत दृष्टिकोण। उस युग में प्रत्येक धर्म-मार्ग का प्रवर्तक आत्मा और जगत के स्वरूप के विषय में अपने दृष्टिकोण को सम्यक् दृष्टिकोण अथवा सम्यग्दर्शन और अपने विरोधी के दृष्टिकोण को मिथ्यादृष्टि अथवा मिथ्यादर्शन कहता था। बाद में प्रत्येक सम्प्रदाय जीवन और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जगत सम्बन्धी अपने दृष्किोण पर विश्वास करने को सम्यग्दर्शन कहने लगा और जो लोग उसकी मान्यताओं के विपरीत मान्यता रखते थे उनको मिथ्यावादी कहने लगा और उनकी मान्यता को मिथ्यादर्शन। इस प्रकार सम्यग्दर्शन शब्द तत्त्वार्थश्रद्धान् (जीव और जगत के स्वरूप की) के अर्थ में अभिरूढ हुआ। लेकिन तत्त्वार्थश्रद्धान के अर्थ में भी सम्यग्दर्शन शब्द अपने मूल अर्थ से अधिक दूर नहीं हुआ था। यद्यपि उसकी भावना में दिशा बदल चुकी थी, उसमें श्रद्धा का तत्त्व प्रविष्ट हो गया था लेकिन वह श्रद्धा थी तत्त्व के स्वरूप की मान्यता के सन्दर्भ में। वैयक्तिक श्रद्धा का विकास बाद की बात थी। श्रमण-परम्परा में सम्यग्दर्शन का दृष्टिकोणपरक अर्थ ही ग्राह्य था जो बाद में तत्त्वार्थश्रद्धान् के रूप में विकसित हुआ यहाँ तक तो श्रद्धा में बौद्धिक पक्ष निहित था, श्रद्धा ज्ञानात्मक थी। लेकिन जैसे-जैसे भागवत सम्प्रदाय का विकास हुआ, उसका प्रभाव जैन और बौद्ध श्रमण परम्पराओं पर भी पड़ा। तत्त्वार्थ की श्रद्धा जब 'बुद्ध' और 'जिन' पर केन्द्रित होने लगी- वह ज्ञानात्मक से भावात्मक और निर्वैयक्तिक से वैयक्तिक बन गई जिसने जैन और बौद्ध परम्पराओं में भक्ति के तत्त्व का वपन किया।[३६] मेरी अपनी दृष्टि में आगम एवं पिटक ग्रन्थों के संकलन एवं लिपिबद्ध होने तक यह सब कुछ हो चुका था। अतः आगम और पिटक ग्रन्थों में सम्यग्दर्शन का भाषाशास्त्रीय विवेचन पर आधारित यथार्थ दृष्टिकोणपरक अर्थ ही उसका प्रथम एवं मूल अर्थ है, लेकिन यथार्थ दृष्टिकोण तो मात्र वीतराग पुरुष का ही हो सकता है, जहाँ तक व्यक्ति राग और द्वेष से युक्त है उसका दृष्टिकोण यथार्थ नहीं हो सकता। इस अर्थ को स्वीकार करने पर यथार्थ दृष्टिकोण तो साधनावस्था में सम्भव नहीं होगा, क्योंकि साधना की अवस्था सरागता की अवस्था है। साधक- आत्मा में तो राग और द्वेष दोनों की उपस्थिति होती है, साधक तो साधना ही इसलिए कर रहा है कि वह इन दोनों से मुक्त हो, इस प्रकार यथार्थ दृष्टिकोण तो मात्र सिद्धावस्था में होगा। लेकिन यथार्थ दृष्टिकोण की आवश्यकता तो साधक के लिए है, सिद्ध को तो वह स्वाभाविक रूप में प्राप्त है। यथार्थ दृष्टिकोण के अभाव में व्यक्ति का व्यवहार एवं साधना सम्यक् नहीं हो सकती अथवा अयथार्थ दृष्टिकोण ज्ञान और जीवन के व्यवहार को सम्यक् नहीं बना सकता है। यहाँ एक समस्या उत्पन्न होती है। यथार्थ दृष्टिकोण का साधनात्मक जीवन में अभाव होता है और बिना यथार्थ दृष्टिकोण के साधना हो नहीं सकती। यह समस्या हमें ऐसी स्थिति में डाल देती कि जहाँ हमें साधना मार्ग की सम्भावना को ही अस्वीकृत करना होता है। यथार्थ दृष्टिकोण के बिना साधना सम्भव नहीं और यथार्थ दृष्टिकोण साधना-काल में हो नहीं सकता।

लेकिन इस धारणा में एक भ्रान्ति है, वह यह कि साधना मार्ग के लिए, दृष्टिकोण की यथार्थता के लिए, राग-द्वेष से पूर्ण विमुक्त दृष्टि का होना आवश्यक नहीं है, मात्र इतना आवश्यक है कि व्यक्ति अयथार्थता को जाने और उसके कारण को जाने। ऐसा साधक यथार्थता को नहीं जानते हुए भी सम्यग्दृष्टि ही है, क्योंकि वह असत्य मानता है और उसके कारण को जानता है अतः वह भ्रान्त नहीं है, असत्य के कारण को जानने के कारण वह उसका निराकरण कर सत्य को पा सकेगा। यद्यपि पूर्ण यथार्थ दृष्टि तो एक साधक व्यक्ति में सम्भव नहीं है, फिर भी उसकी राग-द्वेषात्मक वृत्तियों में जब स्वाभाविक रूप से कमी हो जाती है तो इस स्वाभाविक परिवर्तन के कारण पूर्वानुभूति और पश्चानुभूति में अन्तर ज्ञात होता है और इस अन्तर के कारण के चिन्तन में उसे दो बातें मिल जाती हैं- एक तो यह कि उसका दृष्टिकोण दूषित है और उसकी दृष्टि की दूषितता का अमुक कारण है। यद्यपि यहाँ सत्य तो प्राप्त नहीं होता लेकिन अपनी असत्यता और उसके कारण का बोध हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप उसमें सत्याभीप्सा जाग्रत हो जाती है। यही सत्याभीप्सा उसे सत्य या यथार्थता के निकट पहुँचती है और जितने अंश में वह यथार्थता के निकट पहुँचाता है उतने ही अंश में उसका ज्ञान और चारित्र शुद्ध होता जाता है। ज्ञान और चारित्र की शुद्धता से पुनः राग और द्वेष में क्रमशः कमी होती है और उसके फलस्वरूप उसके दृष्टिकोण में और अधिक यथार्थता आ जाती है। इसी प्रकार क्रमशः व्यक्ति स्वतः ही साधना की चरम स्थिति में पहुँच जाता है। आवश्यकनिर्युक्ति में कहा गया है कि जल जैसे-जैसे स्वच्छ होता जाता है वैसे-वैसे द्रष्टा उसमें प्रतिबिम्बित रूपों को स्पष्टतया देखने लगता है, उसी प्रकार अन्तर में ज्यों-ज्यों तत्त्वरुचि जाग्रत होती है त्यों-त्यों तत्त्व-ज्ञान प्राप्त होता जाता है। इसे जैन परिभाषा में प्रत्येकबुद्ध (स्वतः ही यथार्थता को जानने वाले) का साधना-मार्ग कहते हैं।

लेकिन प्रत्येक सामान्य साधक यथार्थ दृष्टिकोण को इस प्रकार प्राप्त नहीं करता है और उसके लिए यह सम्भव नही है; सत्य की स्वानुभूति का मार्ग कठिन हैं। सत्य को स्वयं जानने की विधि की अपेक्षा दूसरा सहज मार्ग है और वह यह कि जिन्होंने स्वानुभूति से सत्य को जानकर उसका जो भी स्वरूप बताया है, उसको मानकर चलना। इसे ही जैनशास्त्रकारों ने तत्त्वार्थश्रद्धान् कहा है अर्थात् यथार्थ दृष्टिकोण से युक्त वीतराग ने अपने यथार्थ दृष्टिकोण में सत्ता का जो स्वरूप प्रकट किया है, उसे स्वीकार कर लेना। मान लीजिए कोई व्यक्ति पित्त विकार से पीड़ित है, अब ऐसी स्थिति में वह किसी श्वेत वस्तु के यथार्थ ज्ञान से वंचित होगा। उसे वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्राप्त करने के दो मार्ग हो सकते हैं- पहला मार्ग यह है कि उसकी बीमारी में स्वाभाविक रूप से जब कुछ कमी हो जाये और वह अपनी पूर्व और पश्चात् की अनुभूति में अन्तर पाकर अपने रोग को जाने और प्रयासों द्वारा उसे शान्त कर वस्तु के यथार्थस्वरूप का बोध पा जाये। दूसरी स्थिति में जब किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा उसे यह बताया जावे कि वह श्वेत वस्तु को पीत वर्ण की देख रहा है। यहाँ पर इस स्वस्थ दृष्टि वाले व्यक्ति की बात को स्वीकार कर लेने पर भी उसे अपनी रुग्णावस्था या अपनी दृष्टि की दूषितता का ज्ञान हो जाता है और साथ ही वह वस्तुतत्त्व को यथार्थ रूप में जान भी लेता है।

सम्यग्दर्शन को चाहे यथार्थ दृष्टि कहें या तत्त्वार्थश्रद्धान् उनमें वास्तविकता की दृष्टि से अन्तर नहीं होता है। अन्तर होता है उनकी उपलब्धि की विधि में। एक वैज्ञानिक स्वतः प्रयोग के आधार पर किसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्य का उद्घाटन करता है और वस्तुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानता हैं दूसरा व्यक्ति वैज्ञानिक के कथनों पर विश्वास करके भी वस्तुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है। दोनों दशाओं में व्यक्ति का दृष्टिकोण यथार्थ ही कहा जायेगा, यद्यपि दोनों की उपलब्धि विधि में अन्तर है। एक ने उसे तत्त्व-साक्षात्कार या स्वत: की अनुभूति में पाया, तो दूसरे ने श्रद्धा के माध्यम से।

वस्तुतत्त्व के प्रति दृष्टिकोण की यथार्थता जिन माध्यमों से प्राप्त की जा सकती है, वे दो हैं- या तो व्यक्ति स्वयं तत्त्व-साक्षात्कार करे अथवा उन ऋषियों, साधकों के कथनों पर श्रद्धा करे जिन्होंने तत्त्व-साक्षात्कार किया है। तत्त्वश्रद्धा तो मात्र उस समय तक के लिए एक अनिवार्य विकल्प है जब तक साधक तत्त्व-साक्षात्कार नहीं कर लेता। अन्तिम स्थिति तो तत्त्व-साक्षात्कार की ही हैं। इस सम्बन्ध में पं० सुखलाल जी लिखते हैं- ''तत्त्वश्रद्धा ही सम्यग्दृष्टि हो तो भी वह अर्थ अन्तिम नहीं है, अन्तिम अर्थ तो तत्त्व-साक्षात्कार है। तत्त्वश्रद्धा तो तत्त्व-साक्षात्कार का एक सोपान मात्र है। वह सोपान दृढ़ हो तभी यथोचित पुरुषार्थ से तत्त्व का साक्षात्कार होता है।''[३८]

जैन आचार दर्शन में सम्यग्दर्शन का स्थान

सम्यग्दर्शन जैन आचार-व्यवस्था का आधार है। नन्दीसूत्र में सम्यग्दर्शन को संघ रूपी सुमेरु पर्वत की अत्यन्त सुदृढ़ और गहन भूपीठिका (आधारशिला) कहा गया है जिस पर ज्ञान और चारित्र रूपी उत्तम धर्म की मेखला अर्थात् पर्वतमाला स्थित रही हुई है।[३९] जैन आचार दर्शन में सम्यग्दर्शन को मुक्ति का अधिकार-पत्र कहा जा सकता है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के अभाव में आचरण में यथार्थता या सद्चारित्रता नहीं आती और सद्चारित्रता के अभाव में कर्मावरण से मुक्ति सम्भव नहीं और कर्मावरण से जकड़े हुए प्राणी का निर्वाण नहीं होता।[४०] आचारांगसूत्र में कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि पापाचरण नहीं करता।[४१] जैन विचारणा के अनुसार आचरण का सत् अथवा असत् होना कर्ता के दृष्टिकोण (दर्शन) पर निर्भर है। सम्यग्दृष्टित्व से परिनिष्पन्न होने वाला आचरण सदैव सत् होगा और मिथ्यादृष्टि से परिनिष्पन्न होने वाला आचरण सदैव असत् होगा, इसी आधार पर सूत्रकृतांगसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि व्यक्ति प्रबुद्ध है, भाग्यवान है और पराक्रमी भी है, लेकिन यदि उसका दृष्टिकोण असम्यक् है तो उसका समस्त दान, तप आदि पुरुषार्थ फलयुक्त होने के कारण अशुद्ध ही होगा। वह उसे मुक्ति की ओर नहीं ले जाकर बन्धन की ओर ही ले जायेगा, क्योंकि असम्यग्दर्शी होने के कारण वह आसक्त (सराग) दृष्टि वाला होगा और आसक्त या फलाशापूर्ण विचार से परिनिष्पन्न होने के कारण उसके सभी कार्य भी फलयुक्त होंगे और फलयुक्त होने से उसके बन्धन के कारण होंगे। अत: असम्यग्दर्शी व्यक्ति का सारा पुरुषार्थ अशुद्ध ही कहा जायेगा, क्योंकि वह उसकी मुक्ति में बाधक होगा। लेकिन इसके विपरीत सम्यग्दृष्टि या वीतरागदृष्टिसम्पन्न व्यक्ति के सभी कार्य फलाशा से रहित होने से शुद्ध होंगे। इस प्रकार जैन विचारणा यह बताती है कि सम्यग्दर्शन के अभाव से विचार-प्रवाह सराग, सकाम या फलाशा से युक्त होता है और यही कर्मों के प्रति रही हुई फलाशा बन्धन का कारण होने से पुरुषार्थ को अशुद्ध बना देती है, जबकि सम्यग्दर्शन की उपस्थिति से विचार-प्रवाह वीतरागता, निष्कामता और अनासक्ति की ओर बढ़ता है, फलाकांक्षा समाप्त हो जाती है अत: सम्यग्दृष्टि से युक्त सारा पुरुषार्थ परिशुद्ध होता है।[४२]

बौद्ध दर्शन में सम्यग्दर्शन का स्थान

बौद्ध दर्शन में सम्यग्दर्शन का क्या स्थान है, यह बुद्ध के निम्न कथन से स्पष्ट हो जाता है। अंगुत्तरनिकाय में बुद्ध कहते हैं कि-

भिक्षुओं! मैं दूसरी कोई भी एक बात ऐसी नहीं जानता जिससे अनुत्पन्न अकुशल-धर्म उत्पन्न होते हों तथा उत्पन्न अकुशल-धर्मों में वृद्धि होती हो, विपुलता होती हो, जैसे भिक्षुओं! मिथ्या-दृष्टि।

भिक्षुओ! मिथ्यादृष्टि वाले में अनुत्पन्न अकुशल-धर्म पैदा हो जाते हैं, उत्पन्न अकुशल-धर्म वृद्धि को, विपुलता को प्राप्त हो जाते हैं।

भिक्षुओं! मैं दूसरी कोई भी एक बात ऐसी नहीं जानता जिससे अनुत्पन्न कुशल-धर्म उत्पन्न हों तथा उत्पन्न कुशल-धर्मों में वृद्धि होती हो, विपुलता होती हो, जैसे भिक्षुओं! सम्यग्दृष्टि।

भिक्षुओं! सम्यग्दृष्टि वाले में अनुत्पन्न कुशल-धर्म उत्पन्न हो जाते हैं, उत्पन्न कुशल-धर्म वृद्धि को, विपुलता को प्राप्त हो जाते हैं।[४३] इस प्रकार बुद्ध सम्यग्दृष्टि को नैतिक जीवन के लिए आवश्यक मानते हैं। उनकी दृष्टि में मिथ्यादृष्टिकोण इधर (संसार) का किनारा है और सम्यग्दृष्टिकोण उधर (निर्वाण) का किनारा है।[४४] बुद्ध के ये वचन यह स्पष्ट कर देते हैं कि बौद्ध दर्शन में सम्यग्दृष्टि का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वैदिक परम्परा एवं गीता में सम्यग्दर्शन (श्रद्धा) का स्थान

वैदिक-परम्परा में भी सम्यग्दर्शन को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। जैनदर्शन के समान ही मनुस्मृति में कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति कर्म के बन्धन में नहीं आता है, लेकिन सम्यग्दर्शन से विहीन व्यक्ति संसार में परिभ्रमित होता रहता है।

गीता में यद्यपि सम्यग्दर्शन शब्द का अभाव है फिर भी सम्यग्दर्शन को श्रद्धापरक अर्थ में लेने पर गीता में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्ध हो जाता है। श्रद्धा गीता के आचार दर्शन के केन्द्रीय तत्त्वों में से एक है। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं'' कहकर गीता में उसके महत्त्व को स्पष्ट कर दिया है। गीता यह भी स्वीकार करती है कि व्यक्ति की जैसी श्रद्धा होती है, उसका जीवन के प्रति जैसा दृष्टिकोण होता है, वैसा ही वह बन जाता है।[४५] गीता में श्रीकृष्ण ने यह कहकर कि यदि दुराचारी व्यक्ति भी मुझे भजता है अर्थात् मेरे प्रति श्रद्धा रखता है तो वह शीघ्र ही धर्मात्मा होकर चिरशांति को प्राप्त हो जाता है, इस कथन में सम्यग्दर्शन या श्रद्धा के महत्त्व को स्पष्ट कर दिया है।[४६] गीता का यह कथन आचारांग के उस कथन से कि 'सम्यग्दर्शी कोई पाप नहीं करता' काफी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिक साम्यता रखता है। आचार्य शंकर ने अपने गीताभाष्य में भी सम्यग्दर्शन के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "सम्यग्दर्शननिष्ठ पुरुष संसार के बीज रूप अविद्या आदि दोषों का उन्मूलन नहीं कर सके ऐसा कदापि सम्भव नहीं हो सकता अर्थात् सम्यग्दर्शनयुक्त पुरुष निश्चितरूप से निर्वाण-लाभ करता है।"[४७] आचार्य शंकर के अनुसार जब तक सम्यक्दर्शन नहीं होता तब तक राग (विषयासक्ति) का उच्छेद नहीं होता और जब तक राग का उच्छेद नहीं होता, मुक्ति सम्भव नहीं होती।

सम्यग्दर्शन आध्यात्मिक जीवन का प्राण है। जिस प्रकार चेतना से रहित शरीर शव है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति चलता-फिरता शव है। जिस प्रकार शव लोक में त्याज्य होता है वैसे ही आध्यात्मिक-जगत में यह चल-शव त्याज्य होता है।[४८] वस्तुत: सम्यग्दर्शन एक जीवन-दृष्टि है। बिना जीवन-दृष्टि के जीवन का कोई अर्थ नहीं रह जाता। व्यक्ति की जीवन-दृष्टि जैसी होती है उसी रूप में उसके चरित्र का निर्माण हो जाता है। गीता में कहा गया है कि व्यक्ति श्रद्धामय है, जैसी श्रद्धा होती है वैसा ही वह बन जाता है।[४९] असम्यग्जीवनदृष्टि पतन की ओर और सम्यग्जीवन-दृष्टि उत्थान की ओर ले जाती है इसलिए यथार्थ जीवनदृष्टि का निर्माण जिसे भरतीय परम्परा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्दृष्टि या श्रद्धा कहा गया है, आवश्यक है।

यथार्थ जीवनदृष्टि क्या है? यदि इस प्रश्न पर हम गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो हम पाते हैं कि समालोच्य सभी आचार-दर्शनों में अनासक्त एवं वीतराग जीवनदृष्टि को ही यथार्थ जीवनदृष्टि माना गया है।

सम्यग्दर्शन का वर्गीकरण

उत्तराध्ययनसूत्र में सम्यग्दर्शन के, उसकी उत्पत्ति के आधार पर, दस भेद किये गये हैं, जो निम्नानुसार है-.

(१) निसर्ग (स्वभाव) रुचि सम्यक्त्व- जो यथार्थ दृष्टिकोण व्यक्ति में स्वत: ही उत्पन्न हो जाता है, वह निसर्गरुचि सम्यक्त्व कहा जाता है।

(२) उपदेशरुचि सम्यक्त्व-दूसरे व्यक्ति से सुनकर जो यथार्थ दृष्टिकोण या तत्त्वश्रद्धान् होता है, वह उपदेशरुचि सम्यक्त्व है।

(३) आज्ञारुचि सम्यक्त्व- वीतराग महापुरुषों के नैतिक आदेशों को मानकर जो यथार्थ दृष्टिकोण उत्पन्न होता है अथवा जो तत्त्वश्रद्धा होती है, उसे आज्ञारुचि सम्यक्त्व कहा जाता है।

(४) सूत्ररुचि सम्यक्त्व- अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य ग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर जो यथार्थ दृष्टिकोण या तत्त्वश्रद्धान् होता है, वह सूत्ररुचि सम्यक्त्व कहा जाता है।

(५) बीजरुचि सम्यक्त्व- यथार्थता के स्वल्पबोध को स्वचिन्तन के द्वारा विकसित करना, बीजरुचि सम्यक्त्व है।

(६) अभिगमरुचि सम्यक्त्व- अंगसाहित्य एवं अन्य ग्रन्थों को अर्थ एवं विवेचना सहित अध्ययन करने से जो तत्त्व-बोध एवं तत्त्व-श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह अभिगमरुचि सम्यक्त्व है।

(७) विस्ताररुचि सम्यक्त्व- वस्तुतत्त्व (षट् द्रव्यों) के अनेक पक्षों का विभिन्न अपेक्षाओं (दृष्टिकोणों) एवं प्रमाणों से अवबोध कर उनकी यथार्थता पर श्रद्धा करना, यह विस्ताररुचि सम्यक्त्व है।

(८) क्रियारुचि सम्यक्त्व- प्रारम्भिक रूप से साधक जीवन की विभिन्न क्रियाओं के आचरण में रुचि हो और उस साधनात्मक अनुष्ठान के फलस्वरूप यथार्थता का बोध हो, वह क्रियारुचि सम्यक्त्व है।

(९) संक्षेपरुचि सम्यक्त्व- जो वस्तुतत्त्व का यथार्थ स्वरूप नहीं जानता है और जो आर्हत् प्रवचन (ज्ञान) में प्रवीण भी नहीं है लेकिन जिसने अयथार्थ (मिथ्यादृष्टिकोण) को अंगीकृत भी नहीं किया, जिसमें यथार्थ ज्ञान की अल्पता होते हुए भी मिथ्या (असत्य) धारणा नहीं है ऐसा सम्यक्त्व संक्षेपरुचि कहा जाता है।

(१०) धर्मरुचि सम्यक्त्व- तीर्थंकरदेव प्रणीत धर्म में बताए गए द्रव्य स्वरूप, आगम साहित्य एवं नैतिक नियम (चारित्र) पर आस्तिक्य भाव रखना, उन्हें यथार्थ मानना यह धर्मरुचि सम्यक्त्व है।[५१]

सम्यक्त्व का त्रिविधि वर्गीकरण[५२]

अपेक्षाभेद से सम्यक्त्व का त्रिविध वर्गीकरण भी जैनाचार्यों ने किया है इस वर्गीकरण के अनुसार सम्यक्त्व के कारक, रोचक और दीपक ऐसे तीन भेद किय गये :

जिस यथार्थ दृष्टिकोण (सम्यक्त्व) के होने पर व्यक्ति सदाचरण या सम्यक्-चारित्र की साधना में अग्रसर होता है, वह 'कारक सम्यक्त्व' है। कारक सम्यक्त्व ऐसा यथार्थ दृष्टिकोण है जिसमें व्यक्ति आदर्श की उपलब्धि के हेतु सक्रिय एवं प्रयासशील बन जाता है। नैतिक दृष्टि से कहें तो 'कारक-सम्यक्त्व' शुभाशुभ विवेक की वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति जिस शुभ का निश्चय करता है, उसका आचरण भी करता है। यहाँ ज्ञान और क्रिया में अभेद होता है। सुकरात का यह वचन कि 'ज्ञान ही सद्गुण है' इस अवस्था में लागू होता है।

२. रोचक सम्यक्त्व सत्यबोध की वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति शुभ को शुभ और अशुभ को अशुभ के रूप में जानता है और शुभ की प्राप्ति की इच्छा भी करता है, लेकिन उसके लिए प्रयास नहीं करता। सत्यासत्यविवेक होने पर भी सत्य का आचरण नहीं कर पाना, यह रोचक सम्यक्त्व है। जैसे कोई रोगी अपनी रुग्णावस्था को भी जानता है, रोग की ओषधि भी जानता है और रोग से मुक्त होना भी चाहता है लेकिन फिर भी ओषधि को ग्रहण नहीं कर पाता वैसे ही रोचक सम्यक्त्व वाला व्यक्ति संसार के दु:खमय यथार्थ स्वरूप को जानता है, उससे मुक्त होना भी चाहता है, उसे मोक्ष-मार्ग का भी ज्ञान होता है फिर वह सम्यक्-चारित्र पालन (चारित्रमोहकर्म के उदय के कारण) नहीं कर पाता है। इस अवस्था को महाभारत के उस वचन के समकक्ष माना जा सकता है, जिसमें कहा गया है कि धर्म को जानते हुए भी उसमें प्रवृत्ति नहीं होती ओर अधर्म को जानते हुए भी उससे निवृत्ति नहीं होती है।[५३]

३. दीपकसम्यक्त्व

वह अवस्था जिसमें व्यक्ति अपने उपदेश से दूसरों में तत्त्वजिज्ञासा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पन्न कर देता है और उसके परिणामस्वरूप होने वाले यथार्थबोध का कारण बनता है, दीपक सम्यक्त्व कहलाती है। दीपक सम्यक्त्व वाला व्यक्ति वह है जो दूसरों को सन्मार्ग पर लगा देने का कारण तो बन जाता है लेकिन स्वयं कुमार्ग का ही पथिक बना रहता है। जैसे कोई नदी के तीर पर खड़ा हुआ व्यक्ति किसी नदी के मध्य में थके हुए तैराक का उत्साहवर्धन कर उसके पार लगने का कारण बन जाता है यद्यपि न तो स्वयं तैरना जानता है और न पार ही होता है।

सम्यक्त्व का त्रिविध वर्गीकरण एक अन्य प्रकार से भी किया गया है- जिसमें कर्मप्रकृतियों के क्षयोपशम के आधार पर उसके भेद किये हैं। जैन विचारणा में अनन्तानुबंधी (तीव्रतम) क्रोध, मान, माया (कप), लोभ तथा मिथ्यात्वमोह, मिश्रमोह और सम्यक्त्वमोह ये सात कर्म-प्रकृतियाँ सम्यक्त्व (यथार्थबोध) की विरोधी मानी गयी है, इसमें सम्यक्त्वमोहनीय को छोड़ शेष छह कर्म-प्रकृतियाँ उदय होती हैं तो सम्यक्त्व का प्रकटन नहीं हो पाता। सम्यक्त्वमोह मात्र सम्यक्त्व की निर्मलता और विशुद्धि में बाधक होता हैं कर्मप्रकृतियों की तीन स्थितियाँ हैं-

१. क्षय, २. उपशम, और ३. क्षयोपशम।

इसी आधार पर सम्यक्त्व का यह वर्गीकरण किया गया है जिसमें सम्यक्त्व तीन प्रकार का होता है-

१. औपशमिक सम्यक्त्व २. क्षायिक सम्यक्त्व, और
३. क्षायोपशमिक सम्यक्त्व

औपशमिक सम्यक्त्व

उपरोक्त (क्रियामाण) कर्मप्रकृतियों के उपशमित (दबाई हुई) हो जाने से जिस समक्त्व गुण का प्रकटन होता है वह औपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। औपशमिक सम्यक्त्व में स्थायित्व का अभाव होता है। शास्त्रीय विवेचना के अनुसार यह एक अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनिट) से अधिक नहीं टिक पाता है। उपशमित कर्मप्रकृतियाँ (वासनाएँ) पुन: जाग्रत होकर इसे विनष्ट कर देती हैं।

क्षायिक सम्यक्त्व

उपरोक्त सातों कर्मप्रकृतियों के क्षय हो जाने पर जिस सम्यक्त्व रूप यथार्थबोध का प्रकटन होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है। यह यथार्थबोध स्थायी होता है और एक बार प्रकट होने पर कभी भी विनष्ट नहीं होता है। शास्त्रीय भाषा में यह सादि एवं अनन्त होता है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व

मिथ्यात्वजनक उदयगत (क्रियमाण) कर्मप्रकृतियों के क्षय हो जाने पर और अनुदित (सत्तावान या संचित) कर्मप्रकृतियों के उपशम हो जाने पर जिस सम्यक्त्व का प्रगटन होता है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। यद्यपि सामान्य दृष्टि से यह अस्थायी ही है फिर भी एक लम्बी समयावधि (छयासठ सागरोपम से कुछ अधिक) तक अवस्थित रह सकता है।

औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की भूमिका में सम्यक्त्व के रस का पान करने के पश्चात् जब साधक पुन: मिथ्यात्व की ओर लौटता है तो लौटने की इस क्षणिक समयावधि में वान्त सम्यक्त्व का किंचित् संस्कार अवशिष्ट रहता हैं जैसे वमन करते समय वमित पदार्थों का कुछ स्वाद आता है वेसे ही सम्यक्त्व को वान्त करते समय सम्यक्त्व का भी कुछ आस्वाद रहता है। जीव की ऐसी स्थिति सास्वादन सम्यक्त्व कहलाती है।

साथ ही जब जीव क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की भूमिका से क्षायिक सम्यक्त्व की प्रशस्त भूमिका पर आगे बढ़ता है और इस विकास क्रम में जब वह सम्यक्त्वमोहनीय कर्मप्रकृति के कर्मदलिकों का अनुभव कर रहा होता है तो उसके सम्यक्त्व की यह अवस्था 'वेदक सम्यक्त्व' कहलाती है। वेदक सम्यक्त्व के अनन्तर जीव क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है।

वस्तुत: सास्वादन सम्यक्त्व और वेदक सम्यक्त्व सम्यक्त्व की मध्यान्तर अवस्थायें है। पहली सम्यक्त्व से मिथ्यातव की ओर गिरते समय और दूसरी क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से क्षायिक सम्यक्त्व की ओर बढ़ते समय होती है।

सम्यक्त्व का विविध वर्गीकरण

सम्यक्त्व का विश्लेषण अनेक अपेक्षाओं से किया गया है ताकि उसके विविध पहलुओं पर समुचित प्रकाश डाला जा सके। सम्यक्त्व का विविध वर्गीकरण चार प्रकार से किया गया है-

द्रव्य सम्यक्त्व और भाव सम्यक्त्व

१. द्रव्य सम्यक्त्व- विशुद्ध रूप से परिणत किये हुए मिथ्यात्व के कर्मपरमाणु द्रव्य सम्यक्त्व कहलाते हैं।

२. भाव सम्यक्त्व- उपरोक्त विशुद्ध पुद्गल वर्गणा के निमित्त से होने वाली तत्त्वश्रद्धा भाव सम्यक्त्व कहलाती है।

(ब) निश्चय सम्यक्त्व और व्यवहार सम्यक्त्व

१. निश्चय सम्यक्त्व- राग-द्वेष और मोह का अत्यल्प हो जाना, पर-पदार्थों से भेदज्ञान एवं स्व-स्वरूप में रमण, देह में रहते हुए देहाध्यास का छूट जाना, यह निश्चय सम्यक्त्व के लक्षण हैं। मेरा शुद्ध स्वरूप अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तआनन्दमय है। पर-भाव या आसक्ति ही मेरे बन्धन का कारण, और स्व-स्वभाव में रमण करना ही मोक्ष का हेतु है। मैं स्वयं ही अपना आदर्श हूँ, देव-गुरु और धर्म यह मेरी आत्मा ही है। ऐसी दृढ़ श्रद्धा का होना ही निश्चय सम्यक्त्व है। दूसरे शब्दों में आत्मकेन्द्रित होना यही निश्चय सम्यक्त्च है।

२. व्यवहार सम्यक्त्व- वीतराग में देवबुद्धि (आदर्श बुद्धि), पाँच महाव्रतों के पालन करने वाले मुनियों में गुरुबुद्धि और जिनप्रणीत धर्म में सिद्धान्तबुद्धि रखना, यह व्यवहार सम्यक्त्व है।

(स) निसर्गज सम्यक्त्व और अधिगमज सम्यक्त्व[५६]

१. **निसर्गज सम्यक्त्व**-जिस प्रकार नदी के प्रवाह में पड़ा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ पत्थर अप्रयास ही स्वाभाविक रूप से गोल हो जाता है उसी प्रकार संसार में भटकते हुए प्राणी को अनायास ही जब कर्मावरण के अल्प होने पर यथार्थता का बोध हो जाता है तो ऐसा सत्यबोध निसर्गज (प्राकृतिक) होता हैं। बिना किसी गुरु आदि के उपदेश के स्वाभाविक रूप में स्वतः उत्पन्न होने वाला ऐसा सत्य बोध निसर्गज सम्यक्त्व कहलाता है।

२. **अधिगमज सम्यक्त्व**-गुरु आदि के उपदेशरूप निमित्त से होने वाला सत्यबोध या सम्यक्त्व अधिगमज सम्यक्त्व कहलाता है।

इस प्रकार जैन दार्शनिक न तो वेदान्त और मीमांसा दर्शन के अनुसार सत्य के नित्य प्रकटन को स्वीकार करते हैं और न न्याय-वैशेषिक और योगदर्शन के समान यह मानते हैं कि सत्य का प्रकटन ईश्वर के द्वारा होता है वरन् वे तो यह मानते हैं कि जीवात्मा में सत्यबोध को प्राप्त करने की स्वाभाविक शक्ति है और वह बिना किसी दूसरे की सहायता के सत्य का बोध प्राप्त कर सकता है यद्यपि किन्हीं विशिष्ट आत्माओं (तीर्थंकर) द्वारा सत्य का प्रकटन एवं उपदेश भी किया जाता है।[५७]

सम्यक्त्व के पाँच अंग

सम्यक्त्व यथार्थता है, सत्य है; इस सत्य की साधना के लिए जैन विचारकों ने पाँच अंगों का विधान किया है। जब तक साधक इन्हें नहीं अपना लेता है वह यथार्थता या सत्य की आराधना एवं उपलब्धि में समर्थ नहीं हो पाता। सम्यक्त्व के निम्न पाँच अंग हैं :

१. **सम**- सम्यक्त्व का पहला लक्षण है सम। प्राकृत भाषा का यह 'सम' शब्द संस्कृत भाषा में तीन रूप लेता है- १. सम, २. शम, ३. श्रम। इन तीनों शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं। पहले 'सम' शब्द के ही दो अर्थ होते हैं। पहले अर्थ में यह सहानुभूति या तुल्यता है अर्थात् सभी प्राणियों को अपने समान समझना है। इस अर्थ में 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के महान् सिद्धान्त की स्थापना करता है जो अहिंसा की विचार-प्रणाली का आधार है। दूसरे अर्थ में इसे सम-मनोवृत्ति या समभाव कहा जा सकता है अर्थात् सुख-दु:ख, हानि-लाभ एवं अनुकूल और प्रतिकूल दोनों स्थितियों में समभाव रखना, चित्त को विचलित नहीं होने देना। यह चित्तवृत्ति संतुलन हैं संस्कृत के 'शम' रूप के आधार पर इसका अर्थ होता है शांत करना अर्थात् कषायाग्नि या वासनाओं को शांत करना। संस्कृत के तीसरे रूप 'श्रम' के आधार पर इसका निर्वचन होता है- प्रयास, प्रयत्न या पुरुषार्थ करना।

२. **संवेग**- संवेग शब्द का शाब्दिक विश्लेषण करने पर उसका निम्न अर्थ ध्वनित होता है-सम+वेग, सम्यक्त् उचित, वेग- गति अर्थात् सम्यक्गति। सम् शब्द आत्मा के अर्थ में भी आ सकता है। इस प्रकार इसका अर्थ होगा आत्मा की ओर गति। दूसरे, सामान्य अर्थ में संवेग शब्द अनुभूति के अर्थ में भी प्रयुक्त होता हैं यहाँ इसका तात्पर्य होगा स्वानुभूति, आत्मानुभूति अथवा आत्मा के आनन्दमय स्वरूप की अनुभूति। तीसरे, आकांक्षा की तीव्रतम अवस्था को भी संवेग कहा जाता है। इस प्रसंग में इसका अर्थ होगा सत्याभीप्सा अर्थात् सत्य को जानने के तीव्रतम आकांक्षा। क्योंकि जिसमें सत्याभीप्सा होगी वही सत्य को पा सकेगा, सत्याभीप्सा से ही अज्ञान से ज्ञान की ओर प्रगति होती है। यही कारण है कि उत्तराध्ययनसूत्र में संवेग का प्रतिफल बताते हुए महावीर कहते हैं कि संवेग से मिथ्यात्व की विशुद्धि होकर यथार्थ-दर्शन की उपलब्धि (आराधना) होती है।[५८]

३. **निर्वेद**- इस शब्द का अर्थ होता है उदासीनता, वैराग्य, अनासक्ति। सांसारिक प्रवृत्तियों के प्रति उदासीन भाव रखना, क्योंकि इसके अभाव में साधना-मार्ग पर चलना सम्भव नहीं होता। वस्तुत: निर्वेद निष्काम भावना या अनासक्त दृष्टि के उदय का आवश्यक अंग है।

४. **अनुकम्पा**- इस शब्द का शब्दिक निर्वचन इस प्रकार है- अनु+कम्पा। अनु का अर्थ है तदनुसार, कम्प का अर्थ है धूजना या कम्पित होना अर्थात् किसी अन्य के अनुसार कम्पित होना। दूसरे शब्दों में कहें तो अन्य व्यक्ति के दु:खित या पीड़ित होने पर तदनुकूल अनुभूति हमारे अन्दर उत्पन्न होना ही अनुकम्पा है। दूसरे के सुख-दु:ख को अपना सुख-दु:ख समझना यही अनुकम्पा का अर्थ है। परोपकार के नैतिक सिद्धान्त का आधार यही अनुकम्पा है। इसे सहानुभूति भी कहा जा सकता है।

५. **आस्तिक्य**- आस्तिक्य शब्द आस्तिकता का द्योतक है। जिसके मूल में अस्ति शब्द है, जो सत्ता का वाचक है। आस्तिक किसे कहा जाए इस प्रश्न का उत्तर अनेक रूपों में दिया गया है। कुछ ने कहा- जो ईश्वर के अस्तित्व या सत्ता में विश्वास करता है, वह आस्तिक है। दूसरों ने कहा- जो वेदों में आस्था रखता है, वह आस्तिक है। लेकिन जैन विचारणा में आस्तिक और नास्तिक के विभेद का आधार इससे भिन्न है। जैन दर्शन के अनुसार जो पुण्य-पाप, पुनर्जन्म, कर्म-सिद्धान्त और आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है, वह आस्तिक है।

जैन विचारकों की दृष्टि में यथार्थता या सम्यक्त्व के निम्न पाँच दूषण (अतिचार) माने गये हैं जो सत्य या यथार्थता को अपने विशुद्ध स्वरूप में जानने अथवा अनुभूत करने में बाधक होते हैं। अतिचार वह दोष है जिससे व्रत भंग तो नहीं होता लेकिन उसकी सम्यक्त्व प्रभावित होता है। सम्यक् दृष्टिकोण की यथार्थता को प्रभावित करने वाले ३ दोष है- १. चल, २. मल, और ३. अगाढ़। चल दोष से तात्पर्य यह है कि यद्यपि व्यक्ति अन्त:करणपूर्वक तो यथार्थ दृष्टिकोण के प्रति दृढ़ रहता है लेकिन कभी-कभी क्षणिक रूप में बाह्य आवेगों से प्रभावित हो जाता है। मल वे दोष हैं जो यथार्थ दृष्टिकोण की निर्मलता को प्रभावित करते हैं। मल निम्न पाँच हैं-

१. **शंका**-वीतराग या अर्हत् के कथनों पर शंका करना, उनकी यथार्थता के प्रति संदेहात्मक दृष्टिकोण रखना।

२. **आकांक्षा**- स्वधर्म को छोड़कर पर-धर्म की इच्छा करना, आकांक्षा करना अथवा नैतिक एवं धार्मिक आचरण के फल की आकांक्षा करना। फलासक्ति भी साधना-मार्ग में बाधक तत्त्व मानी गयी है।

३. **विचिकित्सा**- नैतिक अथवा धार्मिक आचरण के फल के प्रति संशय करना कि मेरे इस सदाचरण का प्रतिफल मिलेगा या नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन विचारणा में फलापेक्षा एवं फल-संशय दोनों को ही अनुचित माना गया है। कुछ जैनाचार्यों के अनुसार इसका अर्थ घृणा भी लगाया गया है।[५९] मुनिजन, रोगी एवं ग्लान व्यक्तियों के प्रति घृणा रखना घृणाभाव व्यक्ति को सेवापथ से विमुख बनाता है।

४. **मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा**- जिन लोगों का दृष्टिकोण सम्यक् नहीं है ऐसे अयथार्थ दृष्टिकोण वाले व्यक्तियों अथवा संगठनों की प्रशंसा करना।

५. **मिथ्यादृष्टियों से अति परिचय**- साधनात्मक अथवा नैतिक जीवन के प्रति जिनका दृष्टिकोण अयथार्थ है, ऐसे व्यक्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखना। संगति का असर व्यक्ति के जीवन पर काफी अधिक होता है। चारित्र के निर्माण एवं पतन दोनों में ही संगति का प्रभाव पड़ता है अत: अनैतिक आचरण करने वाले लोगों से अतिपरिचय या घनिष्ठ सम्बन्ध रखना उचित नहीं माना गया है।

पं० बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में सम्यक्त्व के अतिचारों की एक भिन्न सूची प्रस्तुत की है। उनके अनुसार सम्यग्दर्शन के निम्न पाँच अतिचार हैं-

१. लोकभय २. सांसारिक सुखों के प्रति आसक्ति ३. भावी जीवन में सांसारिक सुखों के प्राप्त करने की इच्छा ४. मिथ्याशास्त्रों की प्रशंसा एवं ५. मिथ्या-मतियों की सेवा[६०]

अगाढ़ दोष वह दोष है जिसमें अस्थिरता रहती है। जिस प्रकार हिलते हुए दर्पण में यथार्थ रूप तो दिखता है लेकिन वह अस्थिर होता है, उसी प्रकार अस्थिर चित्त में सत्य का प्रकटन तो होता है लेकिन वह भी अस्थिर होता है। स्मरण रखना चाहिए कि जैन विचारणा के अनुसार उपरोक्त दोषों की सम्भावना क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में होती है- उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व में नहीं होती है, क्योंकि उपशम सम्यक्त्व की समयावधि ही इतनी क्षणिक होती है कि दोष होने का अवकाश ही नहीं रहता और क्षायिक सम्यक्त्व पूर्ण शुद्ध होता है अत: उसमें दोषों की सम्भावना नहीं रहती है।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग

उत्तराध्ययनसूत्र में सम्यग्दर्शन की साधना के आठ अंग प्रस्तुत किये गये हैं जिनका समाचरण साधक के लिए अपेक्षित है। दर्शनविशुद्धि के संवर्द्धन और संरक्षण के लिए इनका पालन आवश्यक माना गया है। उत्तराध्ययन में वर्णित यह आठ प्रकार का दर्शनाचार निम्न है-

१. नि:शंकित २. नि:कांक्षित ३. निर्विचिकित्सा ४. अमूढ़दृष्टि ५. उपबृंहण ६. स्थिरीकरण ७. वात्सल्य, और ८. प्रभावना।[६१]

१. **नि:शंकता**- संशयशीलता का अभाव ही नि:शंकता हैं जिनप्रणीत तत्त्व-दर्शन में शंका नहीं करना-उसे यथार्थ एवं सत्य मानना, ही नि:शंकता है।[६२] संशयशीलता साधनात्मक जीवन के विकास का विधायक तत्त्व है। जिस साधक की मन:स्थिति संशय के हिंडोले में झूल रही हो, वह भी इस संसार में झूलता रहता है (परिभ्रमण करता रहता है) और अपने लक्ष्य को नहीं पा सकता। साधना के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साध्य, साधक और साधना-पथ तीनों पर अविचल श्रद्धा चाहिए। साधक में जिस क्षण भी इन तीनों में से एक के प्रति भी सन्देहशीलता उत्पन्न होती है, वह साधना के क्षेत्र में च्युत हो जाता है। यही कारण है कि जैन विचारणा साधनात्मक जीवन के लिए नि:शंकता को आवश्यक मानती है। नि:शंकता की इस धारणा को प्रज्ञा और तर्क का विरोधी नहीं मानना चाहिए। संशय ज्ञान के विकास में साधन हो सकता है लेकिन उसे साध्य मन लेना अथवा संशय में ही रुक जाना साधनात्मक-जीवन के उपयुक्त नहीं हैं। मूलाचार में नि:शंकता को निर्भयता माना गया है।[६३] नैतिकता के लिए पूर्ण निर्भय जीवन आवश्यक है, भय पर स्थित नैतिकता सच्ची नैतिकता नहीं है।

२. **नि:कांक्षता**- स्वकीय आनन्दमय परमात्मस्वरूप में निष्ठावान रहना और किसी भी परभाव की आकांक्षा या इच्छा नहीं करना ही नि:कांक्षता है। साधनात्मक जीवन में भौतिक वैभव अथवा ऐहिक तथा पारलौकिक सुख को लक्ष्य बना लेना, जैनदर्शन के अनुसार 'कांक्षा' है।[६४] किसी भी लौकिक और पारलौकिक कामना को लेकर साधनात्मक जीवन में प्रविष्ट होना, जैन विचारणा को मान्य नहीं है; वह ऐसी साधना को वास्तविक साधना नहीं कहती है, क्योंकि वह आत्म-केन्द्रत नहीं है। भौतिक सुखों और उपलब्धियों के पीछे भागने वाला साधक चमत्कार और प्रलोभन के पीछे किसी भी क्षण लक्ष्यच्युत हो सकता है। इस प्रकार जैन साधना में यह माना गया है कि साधक को साधना के क्षेत्र में प्रविष्ट होने के लिए नि:कांक्षित अथवा निष्काम भाव से युक्त होना चाहिए। आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में नि:कांक्षता का अर्थ ऐकान्तिक मान्याताओं से दूर रहना किया है।[६५] इस आधार पर अनाग्रहयुक्त दृष्टिकोण सम्यक्त्व के लिए आवश्यक माना गया है।

३. **निर्विचिकित्सा**- निर्विचिकित्सा के दो अर्थ माने गये हैं:

(अ) मैं जो धर्म साधना कर रहा हूँ इसका फल मुझे अवश्य मिलेगा या नहीं, मेरी यह साधना व्यर्थ तो नहीं चली जायेगी, ऐसी आशंका रखना 'विचिकित्सा' कहलाती हैं। इस प्रकार साधना और नैतिक क्रिया के फल के प्रति शंकित बने रहना विचिकित्सा है। शंकित हृदय से साधना करने वाले साधक में स्थिरता और धैर्य का अभाव होता है और उसकी साधना सफल नहीं हो पाती है। अत: साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह इस प्रतीति के साथ नैतिक आचरण का प्रारम्भ करे कि क्रिया और फल का अविनाभावी सम्बन्ध है और यदि चरण किया जायेगा तो निश्चित रूप से उसका फल प्राप्त होगा ही। इस प्रकार क्रिया के फल के प्रति सन्देह नहीं होना ही निर्विचिकित्सा है।

(ब) कुछ जैनाचार्यों के अनुसार तपस्वी एवं संयमपरायण मुनियों के दुर्बल एवं जर्जर शरीर अथवा मलिन वेशभूषा को देखकर मन में ग्लानि लाना विचिकित्सा है। अत: साधक की वेशभूषा एवं शरीरादि बाह्य रूप पर ध्यान नहीं देकर उसके साधनात्मक गुणों पर विचार करना चाहिए। वेशभूषा एवं शरीर आदि बाह्य सौन्दर्य पर दृष्टि को केन्द्रित नहीं करके आत्म-सौन्दर्य की ओर उसे केन्द्रित करना यही सच्ची निर्विचिकित्सा है। आचार्य समन्तभद्र का कथन है-शरीर तो स्वभाव से ही अपवित्र है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसकी पवित्रता तो सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप रत्नत्रय के सदाचरण से ही होती है। अतएव गुणीजनों के शरीर से घृणा न कर उनके गुणों से प्रेम करना निर्विचिकित्सा है।[६६]

४. **अमूढ़दृष्टि**- मूढ़ता का अर्थ है अज्ञान। हेय और उपादेय, योग्य और अयोग्य के मध्य निर्णायक क्षमता का अभाव ही अज्ञान है, मूढ़ता है। जैन साहित्य में विभिन्न प्रकार की मूढ़ताओं का वर्गीकरण तीन भागों में किया गया है—

१. देवमूढ़ता, २. लोकमूढ़ता, और ३. समयमूढ़ता

(अ) **देवमूढ़ता**- साधना का आदर्श कौन है? उपास्य बनने की क्षमता किसमें है? ऐसे निर्णायक ज्ञान का अभाव ही देवमूढ़ता है, जिसके कारण साधक अपने लिए गलत आदर्श बनने की योग्यता नहीं है उसे उपास्य बना लेना देवमूढ़ता है। काम-क्रोधादि विकारों के पूर्ण विजेता, वीतराग एवं अविकल ज्ञान और दर्शन से युक्त परमात्मा को ही अपना उपास्य और आदर्श बनाना, यही देव के प्रति अमूढ़दृष्टि है।

(ब) **लोकमूढ़ता**- लोक प्रवाह और रूढ़ियों का अन्धानुकरण यही लोक मूढ़ता हैं। आचार्य समन्तभद्र लोकमूढ़ता की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'नदियों एवं सागर में स्नान करने से आत्मा की शुद्धि मानना, पत्थरों का ढेर कर उसे मुक्ति समझना अथवा पर्वत से गिरकर या अग्नि में जलकर प्राण विसर्जन करना आदि लोकमूढ़ताएँ हैं।'[६७]

(स) **समयमूढ़ता**- समय का अर्थ सिद्धान्त या शास्त्र भी माना गया है। इस अर्थ में सैद्धान्तिक ज्ञान या शास्त्रीय ज्ञान का अभाव समयमूढ़ता है।

५. **उपबृंहण**- बृहि धातु के साथ 'उप' उपसर्ग लगाने से उपबृंह शब्द निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है वृद्धिकरना, पोषण करना। अपने आध्यात्मिक गुणों का विकास करना यह उपबृंहण है। सम्यक् आचरण करने वाले गुणीजनों की प्रशंसा आदि करके उनके सम्यक् आचरण की वृद्धि में योग देना उपबृंहण है।

६. **स्थिरीकरण**- साधनात्मक जीवन में कभी-कभी ऐसे अवसर उपस्थित हो जाते है जब साधक भौतिक प्रलोभन एवं साधनात्मक जीवन की कठिनाइओं के कारण पथच्युत हो जाता है। अत: ऐसे अवसरों पर स्वयं को पथच्युत होने से बचाना और पथच्युत साधकों को धर्ममार्ग में स्थिर करना, यह स्थिरीकरण है। सम्यग्दृष्टिसम्पन्न साधक को न केवल अपने विकास की चिन्ता करनी होती है वरन उसका यह भी कर्तव्य है कि वह ऐसे साधकों को जो धर्ममार्ग से विचलित या पतित हो गये हैं, उन्हें मार्ग में स्थिर करे। जैनदर्शन यह मानता है कि व्यक्ति या समाज की भौतिक सेवा सच्ची सेवा नहीं है, सच्ची सेवा तो है उसे धर्ममार्ग में स्थिर करना। जैनाचार्यों का कथन है कि व्यक्ति अपने शरीर के चमड़े के जूते बनाकर अपने माता-पिता को पहिनाये अर्थात् उनके प्रति इतना अधिक आत्मोत्सर्ग का भाव रखे तो भी वह उनके ऋण से उऋण नहीं हो सकता, वह माता-पिता के ऋण से उऋण तभी माना जाता है जब वह उन्हें धर्ममार्ग में स्थिर करता है । दूसरे शब्दों में, उनके साधनात्मक जीवन में सहयोग देता है। अत: धर्म-मार्ग से पतित होने वाले व्यक्तियों को धर्म-मार्ग में पुन: स्थिर करना यह साधक का कर्तव्य माना गया है। इस पतन के दो प्रकार होते है—

१. दर्शन विकृति अर्थात दृष्टिकोण की विकृतता

२. चारित्र विकृति अर्थात धर्म-मार्ग या सदाचरण से च्युत होना। दोनों ही स्थितियों में उसे यथोचित बोध देकर स्थिर करना चाहिए।[६९] दिगम्बर परम्परा के श्रावकाचार विषयक ग्रन्थों में 'स्थिरीकरण' के स्थान पर 'स्थितिकरण' शब्द मिलता है।

७. **वात्सल्य**- धर्ममार्ग में समाचरण करने वाले समान शील अर्थात् सहधर्मियों के प्रति प्रेमभाव रखना वात्सल्य है। आचार्य समन्तभद्र के अनुसार 'स्वधर्मियों एवं गुणियों के प्रति निष्कपट भाव से प्रीति रखना और उनकी यथोचित सेवा -सुश्रुषा करना वात्सल्य है। वात्सल्य का प्रतीक गाय और गोवत्स (बछड़े) का प्रेम है। जिस प्रकार गाय बिना किसी प्रतिफल की अपेक्षा के गोवत्स को संकट में देखकर अपने प्राणों को भी जोखिम में डाल देती है, ठीक उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि साधक का भी यह कर्तव्य है कि वह धार्मिकजनों के सहयोग और सहकार के लिए कुछ भी उठा नहीं रखे । वात्सल्य संघ, धर्म या सामाजिक भावना का केन्द्रीय तत्त्व है।

८. **प्रभावना**- साधना के क्षेत्र में स्व-पर-कल्याण की भावना होती है। जैसे पुष्प अपने सुवास से स्वयं भी सुवासित होता है और दूसरों को भी सुवासित करता है वैसे ही साधक सदाचरण और ज्ञान की सौरभ से स्वयं भी सुरभित होता है, साथ ही जगत् को भी सुरभित करता है। साधना, सदाचरण और ज्ञान की सुरभि द्वारा जगत के अन्य प्राणियों को धर्ममार्ग में आकर्षित करना, यही प्रभावना है।

प्रभावना के आठ प्रकार माने गये हैं—

१. प्रवचन, २. धर्म, ३. पाद, ४. नैमित्तिक, ५. तप, ६. विद्या, ७. प्रसिद्ध व्रत ग्रहण करना और ८. कवित्वशक्ति ।

सम्यग्दर्शन की साधना के ६ स्थान

जिस प्रकार बौद्धदर्शन में दु:ख है, दु:ख का कारण है, दु:ख से निवृत्ति हो सकती है, और दु:ख निवृत्ति का मार्ग है, इन चार आर्यसत्यों की स्वीकृति सम्यग्दृष्टित्व है उसी प्रकार जैन साधना के अनुसार निम्न षट्स्थानकों[७१] (छ: बातों) की स्वीकृति सम्यग्दृष्टित्व है—

१- आत्मा है।

२- आत्मा नित्य है।

३- आत्मा अपने कर्मों का कर्ता है।

४- आत्मा कृतकर्मों के फल का भोक्ता है।

५- आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

६- मुक्ति का उपाय या मार्ग है।

जैन तत्त्व विचारणा के अनुसार उपरोक्त षट्स्थानकों पर दृढ़ प्रतीति सम्यग्दर्शन की साधना का आवश्यक अंग है। दृष्टिकोण की विशुद्धता एवं सदाचरण दोनों ही इन पर निर्भर हैं। यह षट्स्थानक जैन नैतिकता के केन्द्र बिन्दु हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्ध-दर्शन में सम्यक्-दर्शन का स्वरूप

जैसा कि हमने पूर्व में देखा बौद्ध परम्परा में जैन-परम्परा के सम्यक्दर्शन के स्थान पर सम्यक् समाधि; श्रद्धा या चित्त का विवेचन उपलब्ध होता है। बुद्ध ने अपने त्रिविध साधना मार्ग में कहीं शील, समाधि और प्रज्ञा, कहीं शील, चित्त और प्रज्ञा और कहीं शील, श्रद्धा और प्रज्ञा का विवेचन किया है। इस आधार पर हम देखते है कि बौद्ध-परम्परा में समाधि, चित्त और श्रद्धा का प्रयोग सामान्यतया एक ही अर्थ में हुआ है। वस्तुत: श्रद्धा चित्त-विकल्प की शून्यता की ओर ही ले जाती है। श्रद्धा के उत्पन्न हो जाने पर विकल्प समाप्त हो जाते हैं। उसी प्रकार समाधि की अवस्था में भी चित्त विकल्प नहीं होते हैं। अत: चित्त, समाधि और श्रद्धा एक ही अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। यद्यपि अपेक्षा भेद से इनके अर्थो में भिन्नता भी रही हुई है। श्रद्धा बुद्ध, संघ और धर्म के प्रति अनन्य निष्ठा है तो समाधि चित्त की शांत अवस्था है।

बौद्ध परम्परा में सम्यग्दर्शन का अर्थसाम्य बहुत कुछ सम्यग्दृष्टि से है। जिस प्रकार जैन-दर्शन में सम्यग्दर्शन तत्त्वश्रद्धा है उसी प्रकार बौद्धदर्शन में सम्यक्दृष्टि चार आर्यसत्यों के प्रति श्रद्धा है। जिस प्रकार जैन धर्म में सम्यक् दर्शन का अर्थ देव, गुरु और धर्म के प्रति निष्ठा माना गया है उसी प्रकार बौद्धदर्शन में श्रद्धा का अर्थ बुद्ध, धर्म एवं संघ के प्रति निष्ठा है। जिस प्रकार जैन-दर्शन में देव के रूप में अरिहंत को साधना-आदर्श स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार बौद्ध-परम्परा में साधना आदर्श के रूप में बुद्ध और बुद्धत्व को स्वीकार किया जाता है। साधना-मार्ग के रूप में दोनों ही धर्म के प्रति निष्ठा का आवश्यक बताते हैं। जहाँ तक साधना के पथ-प्रदर्शक का प्रश्न है जैन-परम्परा में पथ-प्रदर्शक के रूप में गुरु को स्वीकार किया गया है, जबकि बौद्ध-परम्परा उसके स्थान पर संघ को स्वीकार करती है।

जैसा कि हमने पूर्व में निर्देश किया, जैन-दर्शन में सम्यग्दर्शन के दृष्टिकोणपरक और श्रद्धापरक ऐसे दो अर्थ स्वीकृत रहे हैं। बौद्ध-परम्परा में श्रद्धा और सम्यग्दृष्टि दो भिन्न भिन्न तथ्य माने गये हैं। दोनों समवेत रूप से जैन-दर्शन के सम्यग्दर्शन शब्द के अर्थ को बौद्ध-दर्शन में स्पष्ट कर देते हैं।

जैन-परम्परा में सम्यग्दर्शन को तत्त्वदृष्टि या तत्त्वश्रद्धान् से भिन्न श्रद्धापरक अर्थ में भी लिया जाता हैं। बौद्ध परम्परा में उसकी तुलना श्रद्धा से की जा सकती है। बौद्ध परम्परा में श्रद्धा पाँच इन्द्रियों में प्रथम इन्द्रिय, पाँच बलों में अन्तिम बल और स्रोतापन्न अवस्था के चार अंगों में प्रथम अंग मानी गई है। बौद्ध परम्परा में श्रद्धा का अर्थ चित्त की प्रसादमयी अवस्था माना गया है। श्रद्धा जब चित्त में उत्पन्न होती है तो वह चित्त को प्रीति और प्रामोद्य से भर देती है और चित्तमलों को नष्ट कर देती है। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि बौद्ध परम्परा में श्रद्धा अन्धविश्वास नहीं वरन् एक बुद्धिसम्मत अनुभव है। यह विश्वास करना नहीं वरन् साक्षात्कार के पश्चात् उत्पन्न हुई तत्त्वनिष्ठा है। बुद्ध एक ओर यह मानते हैं कि धर्म का ग्रहण स्वयं के द्वारा जानकर ही करना चाहिए। कालामासुत्त में उन्होंने इसे सविस्तार स्पष्ट किया है। दूसरी ओर वे यह भी आवश्यक समझते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति बुद्धधर्म और संघ के प्रति निष्टावान रहे। बुद्ध श्रद्धा को प्रज्ञा से समन्वित करके चलते हैं। मज्झिमनिकाय में बुद्ध यह स्पष्ट कर देते हैं कि समीक्षा के द्वारा ही उचित प्रतीत होने पर धर्म का ग्रहण करना चाहिए।[७२] विवेक और समीक्षा यह सदैव ही बुद्ध को स्वीकृत रहे हैं। बुद्ध भिक्षुओं को सावधान करते हुए कहते थे कि भिक्षुओं, क्या तुम शास्ता के गौरव से तो हाँ नहीं कह रहे हो? भिक्षुओं, जो तुम्हारा अपना देखा हुआ, अपना अनुभव किया हुआ है क्या उसी को तुम कह रहे हो।[७३] इस प्रकार बुद्ध श्रद्धा को प्रज्ञा से समन्वित कर देते हैं। सामान्यतया बौद्ध-दर्शन में श्रद्धा को प्रथम और प्रज्ञा को अन्तिम स्थान दिया गया है। साधना-मार्ग की दृष्टि से श्रद्धा पहले आती है और प्रज्ञा उसके पश्चात् उत्पन्न होती है। श्रद्धा के कारण ही धर्म का श्रवण, ग्रहण, परीक्षण और वीर्यारम्भ होता है। नैतिक जीवन के लिए श्रद्धा कैसे आवश्यक होती है इसका सुन्दर चित्रण बौद्ध-परम्परा के सौन्दरनन्द नामक ग्रन्थ में किया जाता है। उसमें बुद्ध नन्द के प्रति कहते हैं कि पृथ्वी के भीतर जल है यह श्रद्धा जब मनुष्य को होती है तब प्रयोजन होने पर पृथ्वी को प्रयत्नपूर्वक खोदता है। भूमि से अन्न की उत्पत्ति होती है, यदि यह श्रद्धा कृषक में न हो तो वह भूमि में बीज ही नहीं बोयेगा। धर्म की उत्पत्ति में श्रद्धा उत्तम कारण मानी गई है। जब तक मनुष्य तत्त्व को देख या सुन नहीं लेता तब तक उसकी श्रद्धा स्थिर नहीं होती। साधना के क्षेत्र में प्रथम अवस्था में श्रद्धा एक परिकल्पना के रूप में ग्रहण होती है और वही अन्त में तत्त्वसाक्षात्कार बन जाती है। बुद्ध ने श्रद्धा और प्रज्ञा अथवा दूसरे शब्दों में जीवन के बौद्धिक और भावात्मक पक्षों में एक समन्वय किया है। यह एक ऐसा समन्वय है जिसमें न तो श्रद्धा अन्धश्रद्धा बनती है और न प्रज्ञा केवल बौद्धिक या तर्कात्मक ज्ञान बन कर रह जाती है।

जिस प्रकार जैन-दर्शन में सम्यक्दर्शन के शंकाशीलता, आकांक्षा, विचिकित्सा आदि दोष माने गए हैं उसी प्रकार बौद्ध परम्परा में भी पाँच नीवरण माने गाये हैं। जो इस प्रकार हैं-

१. कामच्छन्द (कामभोगों की चाह)
२. अव्यापाद (अविहिंसा)
३. स्त्यानगृद्ध (मानसिक और चैतसिक आलस्य)
४. औद्धत्य-कौकृत्य (चित्त की चंचलता), और
५. विचिकित्सा (शंका)[७४]

तुलनात्मक दृष्टि से अगर हम देखें तो बौद्ध-परम्परा का कामच्छन्द जैन-परम्परा के कांक्षा नामक अतिचार के समान है। इसी प्रकार विचिकित्सा को भी दोनों ही दर्शनों में स्वीकार किया गया हैं। जैन-परम्परा में संशय और विचिकित्सा दोनों अलग-अलग माने गए है लेकिन बौद्ध परम्परा दोनों का अन्तर्भाव एक में ही कर देती है। इस प्रकार कुछ सामान्य मतभेदों को छोड़ कर जैन और बौद्ध दृष्टिकोण एक-दूसरे के निकट ही आते हैं।

गीता में श्रद्धा का स्वरूप एवं वर्गीकरण

जैसा कि हमने पूर्व में निर्देश किया कि गीता में सम्यग्दर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के स्थान पर श्रद्धा का प्रत्यय ग्राह्य है। जैन-परम्परा में सामान्यतया सम्यग्दर्शन दृष्टिपरक अर्थ में स्वीकार हुआ है और अधिक से अधिक उसमें यदि श्रद्धा का तत्त्व समाहित है तो वह तत्त्वश्रद्धा ही है। लेकिन गीता में श्रद्धा शब्द का अर्थ प्रमुख रूप से ईश्वर के प्रति अनन्य निष्ठा ही माना गया है। अत: गीता में श्रद्धा के स्वरूप पर विचार करते समय हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि जैन-दर्शन में श्रद्धा का जो अर्थ है वह गीता में नहीं है।

यद्यपि गीता भी यह स्वीकार करती है नैतिक जीवन के लिए संशयरहित होना आवश्यक है। श्रद्धारहित यज्ञ, तप, दान आदि सभी नैतिक कर्म निरर्थक ही माने गये हैं।[७५] गीता में श्रद्धा तीन प्रकार की मानी गई है- १. सात्विक, २. राजस और ३. तामस। सात्विक श्रद्धा सतोगुण से उत्पन्न होकर देवताओं के प्रति होती है। राजस श्रद्धा यक्ष और राक्षसों के प्रति होती है। इसमें रजोगुण की प्रधानता होती है। तामस श्रद्धा भूत-प्रेत आदि के प्रति होती है।[७६]

जिस प्रकार जैन-दर्शन में शंका या सन्देह को सम्यग्दर्शन का दोष माना गया है उसी प्रकार गीता में भी संशयात्मकता को दोष माना गया है।[७७] जिस प्रकार जैन-दर्शन में फलाकांक्षा भी सम्यग्दर्शन का अतिचार (दोष) मानी गई है उसी प्रकार गीता में भी फलाकांक्षा को दोष ही माना गया है। गीता के अनुसार जो फलाकांक्षा से युक्त होकर श्रद्धा रखता है अथवा भक्ति करता है वह साधक निम्न श्रेणी का ही है। फलाकांक्षायुक्त श्रद्धा व्यक्ति को आध्यात्मिक प्रगति की दृष्टि से आगे नहीं ले जाती है। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं जो लोग विवेक ज्ञान से रहित होकर तथा भोगों की प्राप्ति विषयक कामनाओं से युक्त हो मुझ परमात्मा को छोड़ अन्यान्य देवताओं की शरण ग्रहण करते हैं, मैं उन लोगों की श्रद्धा उनमें स्थिर कर देता हूँ और उस श्रद्धा से युक्त होकर वे उन देवताओं की आराधना के द्वारा अपनी कामनाओं की पूर्ति करते हैं। लेकिन उन अल्पबुद्धि लोगों का वह फल नाशवान होते है। देवताओं का पूजन करने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं। लेकिन मुझ परमात्मा की भक्ति करने वाला मुझे ही प्राप्त होता है।[७८]

गीता में श्रद्धा या भक्ति अपने आधारों की दृष्टि से चार प्रकार की मानी गई है-

१. ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् होने वाली श्रद्धा या भक्ति। परमात्मा का साक्षात्कार कर लेने के पश्चात् उनके प्रति जो निष्ठा होती है वह एक ज्ञानी की निष्ठा मानी गई है।

२. जिज्ञासा की दृष्टि से परमात्मा पर श्रद्धा रखना। यह श्रद्धा या भक्ति का दूसरा रूप है। इसमें यद्यपि श्रद्धा तो होती है लेकिन वह पूर्णतया संशयरहित नहीं होती जबकि प्रथम स्थिति में होने वाली श्रद्धा पूर्णतया संशयरहित होती है। संशयरहित श्रद्धा तो साक्षात्कार के पश्चात् ही सम्भव है। जिज्ञासा की अवस्था में संशय बना ही रहता है अत: श्रद्धा का यह स्तर प्रथम की अपेक्षा निम्न ही माना गया है।

३. तीसरे स्तर की श्रद्धा आर्त व्यक्ति की होती है। कठिनाई में फँसा हुआ व्यक्ति जब स्वयं अपने को उससे उबरने में असमर्थ पाता है और इसी दैन्य भाव से किसी उद्धारक के प्रति अपनी निष्ठा को स्थित करता है तो उसकी यह श्रद्धा या भक्ति एक दु:खी या आर्त व्यक्ति की भक्ति होती है श्रद्धा या भक्ति का यह स्तर पूर्वोक्त दोनों स्तरों से निम्न होता है।

४. श्रद्धा या भक्ति का चौथा स्तर वह है जिसमें श्रद्धा का उदय स्वार्थ के वशीभूत होकर होता है। यहाँ श्रद्धा कुछ पाने के लिए की जाती है, यह फलाकांक्षा की पूर्ति के लिए की जाने वाली श्रद्धा अत्यन्त निम्न स्तर की मानी गई है। वस्तुत: इसे श्रद्धा केवल उपचार से ही कहा जाता है। अपनी मूल भावनाओं में तो यह एक व्यापार अथवा ईश्वर को ठगने का एक प्रयत्न है। ऐसी श्रद्धा या भक्ति नैतिक प्रगति में किसी भी अर्थ में सहायक नहीं हो सकती है। नैतिक दृष्टि से केवल ज्ञान के द्वारा अथवा जिज्ञासा के लिए की गई श्रद्धा का ही कोई अर्थ और मूल्य हो सकता है।[७९]

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते समय हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गीता में स्वयं श्रीकृष्ण के द्वारा अनेक बार यह आश्वासन दिया गया है कि जो मेरे प्रति श्रद्धा रखेगा वह बन्धनों से छूट कर अन्त में मुझे ही प्राप्त हो जायेगा। गीता में भक्त के योगक्षेम की जिम्मेदारी स्वयं श्रीकृष्ण ही वहन करते है[१०] जबकि जैन और बौद्ध दर्शनों में ऐसे आश्वासनों का अभाव है। गीता में वैयक्तिक ईश्वर के प्रति जिस निष्ठा का उद्बोधन है वह सामान्यतया जैन और बौद्ध दर्शनों में ऐसे आश्वासनों का अभाव है। गीता में वैयक्तिक ईश्वर के प्रति जिस निष्ठा का उद्बोधन है वह सामान्यतया जैन और बौद्ध परम्पराओं में अनुपलब्ध ही है।

उपसंहार

सम्यग्दर्शन अथवा श्रद्धा का जीवन में क्या मूल्य है, इस पर भी विचार अपेक्षित है। यदि हम सम्यग्दर्शन को दृष्टिपरक अर्थ में स्वीकार करते हैं, तो उसका हमारे जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्ध होता है। सम्यग्दर्शन जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण है, वह अनासक्त जीवन जीने की कला का केन्द्रीय तत्त्व है। हमारे चरित्र या व्यक्तित्व का निर्माण इसी जीवन दृष्टि के आधार पर होता है। गीता में इसी तथ्य को यह कहकर बताया है कि पुरुष जिसकी श्रद्धा जैसी होती है वैसा ही वह बन जाता है। हम अपने को जैसा बनाना चाहते हैं, अपनी जीवन दृष्टि का निर्माण भी उसी के अनुरूप करें। क्योंकि व्यक्ति की जैसी दृष्टि होती है वैसा ही उसका जीवन जीने का ढंग होता है और जैसा उसका जीवन जीने का ढंग होता है वैसा ही उसका चरित्र बन जाता है। और जैसा उसका चरित्र होता है वैसा ही उसके व्यक्तित्व का उभार होता है। अत: एक यथार्थ दृष्टिकोण का निर्माण जीवन की सबसे प्राथमिक आवश्यकता है।

संदर्भ

१. दशवैकालिक, ४/११
२. इसिभासियाइं सुत्तं, गहावइज्जं नामज्झयणं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. गीता, ३/३६
४. इसिभासियाइं सुत्तं, २१/३
५. अंगुत्तरनिकाय, १/१७
६. संयुत्तनिकाय, २१/३/३/८
७. संयुत्तनिकाय, ४३/३/१
८. तत्त्वार्थ० सर्वार्थसिद्धि टीका-(पूज्यपाद) ८/१
९. मज्झिमनिकाय, चंकिसुत्त उद्धृत महायान, पृ० १२५,
१०. उदान, ६/४
११. अंगुत्तरनिकाय, १/११
१२. गीता, २/४२-४५
१३. आचारांग, १/५/१/१४४
१४. आचारांग, हिन्दी टीका, प्रथम भाग, पृ० ४०९
१५. गीता, ४/४०
१६. स्थानांग, स्थान १०। तुलना कीजिए-अंगुत्तरनिकाय १/१०-१२
१७. अंगुत्तरनिकाय, १/१०-१२
१८. हिस्ट्री आफ फिलॉसफी (थिली), पृ० २८७
१९. समयसार, २१-२२।
२०. उद्धृत-जैन स्टडीज, पृ० १३६
२१. भारतीय दर्शन, पृ० ३८२-३८३
२२. उद्धृत-जैन स्टडीज, पृ० १३२-१३३
२३. विस्तृत विवेचना के लिए देखिए जैन स्टडीज, पृ० १२६-१२७ एवं २०१-२१५
२४. गीता, १८/२१-२२
२५. बृहदारण्यकोपनिषद्, ४/४/१९
२६. ईशावास्योपनिषद्, ६-७
२७. विवेकचूड़ामणि-मायानिरूपण, १११
२८. विशेषावश्यकभाष्य, १७८७-९०
२९. अभिधानराजेन्द्र, खण्ड ५, पृष्ठ २४२५
३०. वही, खण्ड ५, पृष्ठ २४२५
३१. सम प्राब्लम्स इन जैन साइकोलाजी, पृष्ठ ३२
३२. अभि० रा०, खण्ड ५, पृ० २४२५
३३. तत्त्वार्थसूत्र १/२
३४. उत्तराध्ययन २८/३५
३५. सामायिक सूत्र-सम्यक्त्व पाठ
३६. देखिए स्थानांग, ५/२ उद्धृत-आत्म-साधना संग्रह, पृ० १४३
३७. आवश्यकनिर्युक्ति, ११६३
३८. जैनधर्म का प्राण, पृ० २४
३९. नन्दीसूत्र, १/१२
४०. उत्तराध्ययन, २८/३०
४१. आचारांग, १/३/२
४२. सूत्रकृतांग, १/८/२२-२३
४३. अंगुत्तरनिकाय, १/१७
४४. वही, १०/१२
४५. मनुस्मृति, ६/७४
४६. वही, १७/३
४७. वही, ९/३०-३१
४८. वही, (शां०) १८/१२
४९. भावपाहुड, १४३
५०. गीता, १७/३
५१. उत्तराध्ययन, २८/१६
५२. विशेषावश्यकभाष्य, २६७५
५३. देखिए-पंचदशी ६/१७६ उद्धृत-भारतीय-दर्शन, पृ० १२
५४. वही, (टीका) १४९/९४२
५५. प्रवचनसारोद्धार (टीका) १४९/९४२
५६. स्थानांगसूत्र, २/१/७०
५७. स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २६८
५८. उत्तराध्ययन, २९/१
५९. देखिए गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गाथा २९ की अंग्रेजी टीका जे० एल० जैन, पृष्ठ २२
६०. नाटक समयासार, १३/३८
६१. उत्तराध्ययन, २८/३१
६२. आचारांग, १/५/५/१६३
६३. मूलाचार, २/५२-५३
६४. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, १२
६५. पुरुषार्थ०, २४
६६. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, १३
६७. वही, १४
६८. पुरुषार्थ०, २७
६९. रत्नकरण्ड श्रावकाचार १६
७०. पुरुषार्थ०, ३०
७१. आत्मा छे, ते नित्य छे, छे कर्ता निजकर्म।
छे भोक्ता वली मोक्ष छे, मोक्ष उपाय दुधर्म।।
-आत्मसिद्धि शास्त्र (श्रीमद् राजचन्दभाई)
७२. मज्झिमनिकाय, १/५/७
७३. वही, १/४/८
७४. विसुद्धिग्ग, पृ० (भाग-१)
७५. वही, १७/१५
७६. वही, १७/२-४
७७. वही, ४/४०
७८. वही, ७/२१-२३
७९. वही, ७/१६
८०. वही, १८/६५-६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org